हमारे आदर्श

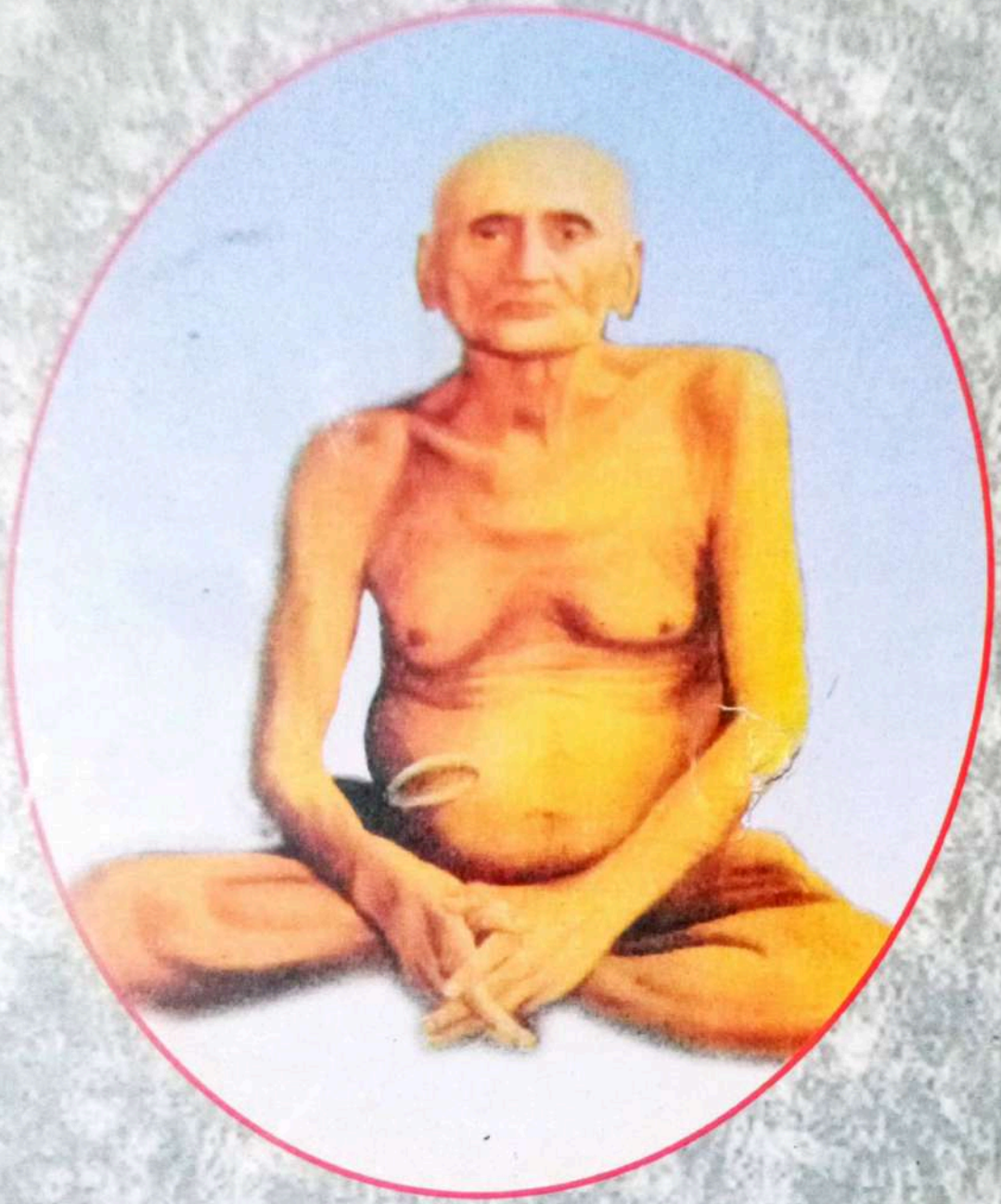

प०पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री १०८ शांति सागर जी महाराज

प्रस्तुति : उपाध्याय मुनि निर्णय सागर

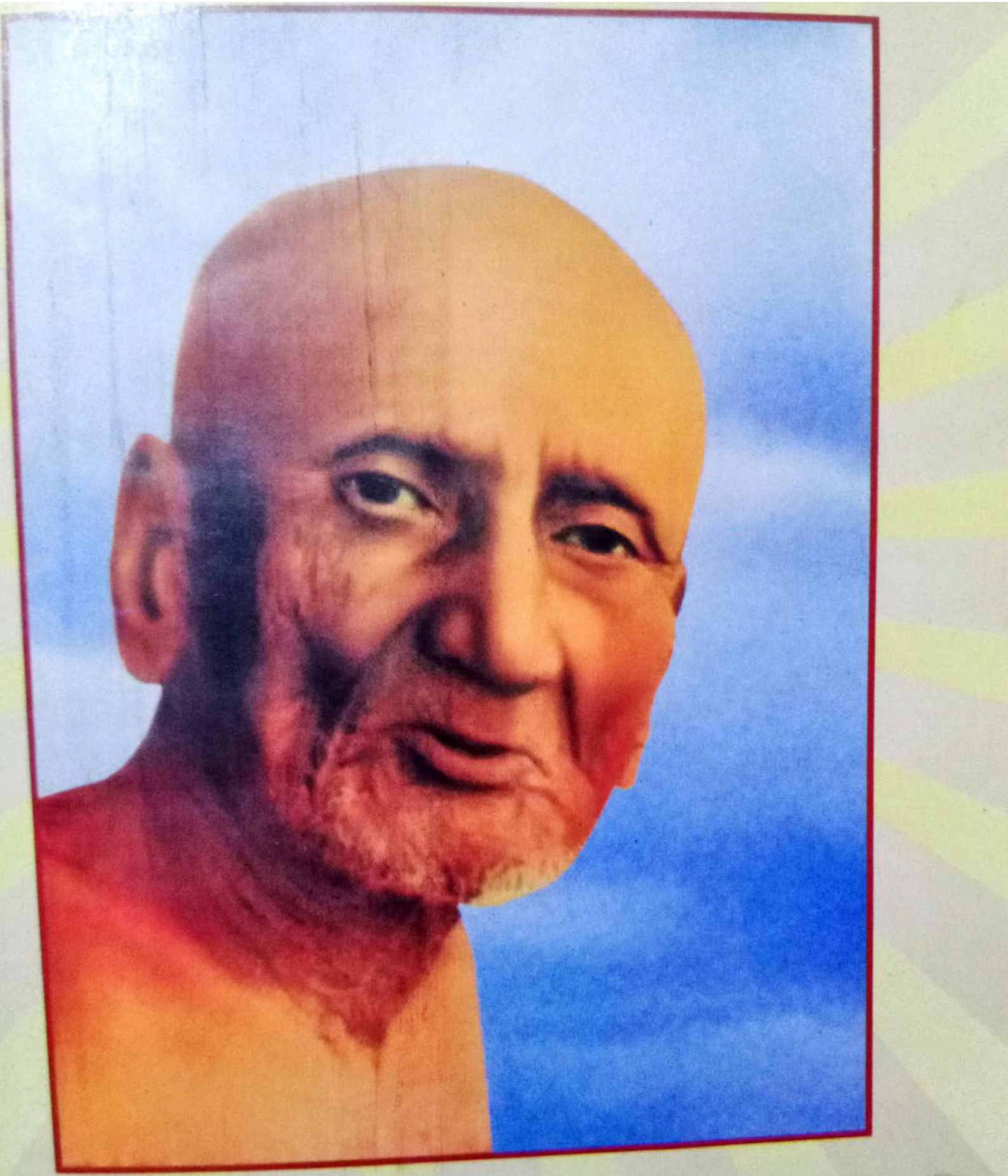

चारित्र चक्रवर्ति १०८ आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज

प्रस्तुति

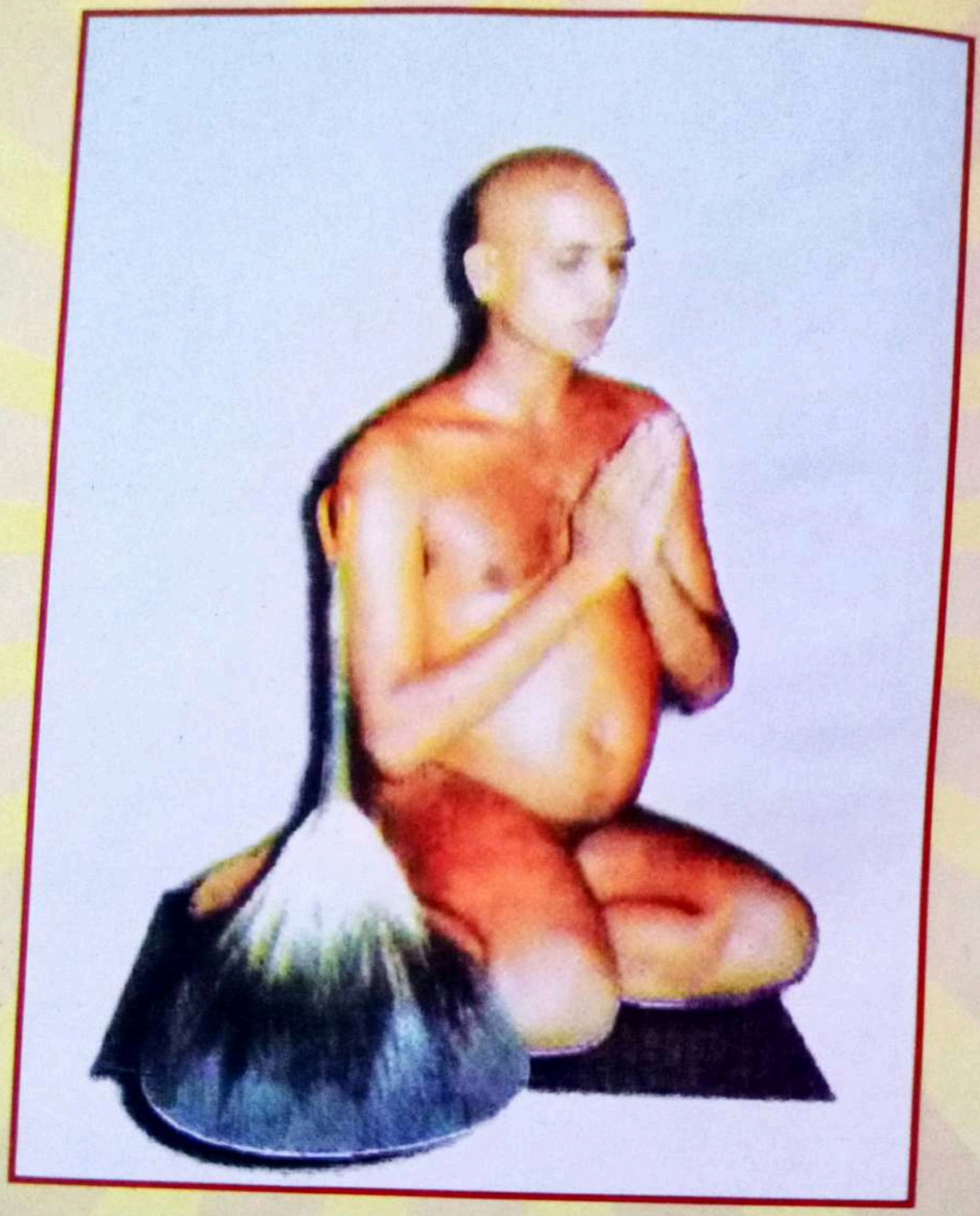

उपाध्याय १०८ श्री निर्णयसागर जी महाराज

समर्पण

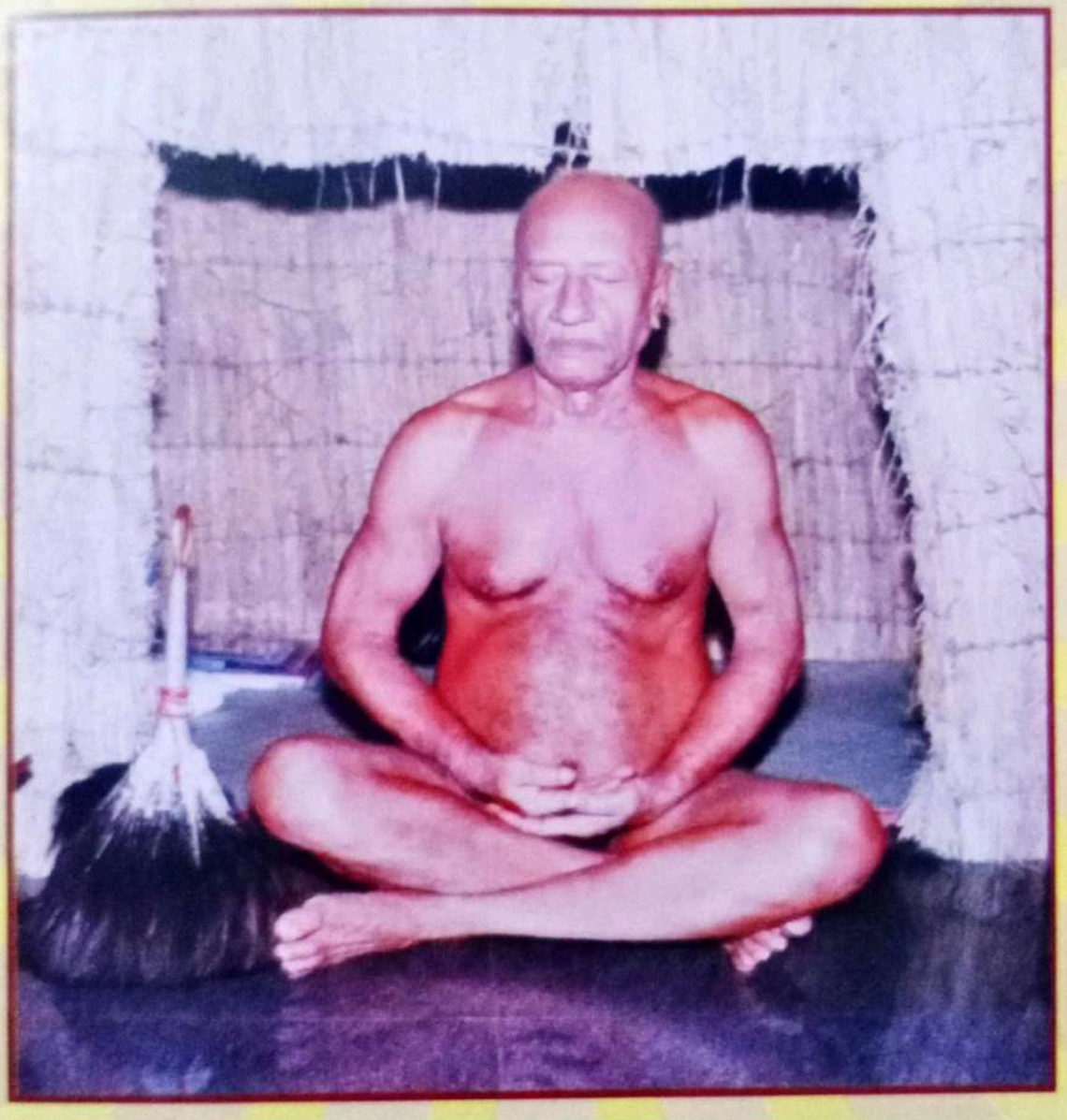

राष्ट्रसंत दिगम्बर जैन आचार्य श्री १०८
विद्यानन्द जी महाराज

कृति
हमारे आदर्श

कृतिकार
उपाध्याय मुनि निर्णय सागर जी महाराज

आशीर्वाद
राष्ट्रसंत आचार्य श्री विद्यानंद जी महाराज

सहयोग
ऐलक श्री विमुक्त सागर जी महाराज
क्षुल्लक श्री विशंक सागर जी महाराज
क्षुल्लक श्री नित्यानंद सागर जी महाराज

संस्करण
प्रथम : सन् २००३

© सर्वाधिकार सुरक्षित - प्रकाशकाधीन

पृष्ठ सज्जा :
यूनिक कम्प्यूटर सैन्टर,
शारदा रोड, मेरठ।

मुद्रक :
प्रगति प्रिंटर्स, ट्रांसपोर्ट नगर, मेरठ
अतुल प्रिंटर्स, पी.एल.शर्मा रोड, मेरठ

प्रकाशक :
आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज
साहित्य प्रकाशन समिति,
२७४/१, ज्योति, नई प्रेमपुरी, मेरठ
दूरभाष : ०१२१-२५१०२३७, २५३४६६१

भूषण स्वरूप
एम.ए., सी.ए.आई. आई.सी.डब्ल्यू.ए.
वरिष्ठ प्रबंधक, पी.एन.बी. (रिटायर्ड)

आभार

साधर्मी बंधुओं,

मुझे बड़ी ही प्रसन्नता है कि परमपूज्य उपाध्याय श्री निर्णय सागर जी महाराज ने अपने दिगम्बर जैन मंदिर, डी-ब्लाक, शास्त्रीनगर मेरठ में वर्षायोग के अवसर पर आचार्य श्री शांति सांगर जी महाराज साहित्य प्रकाशन समिति का अध्यक्ष बनाकर अपना आशीष प्रदान किया जिसके लिये मैं उपाध्याय श्री के चरणों में बारम्बार नमन करता हूं। इस समिति के मंत्री श्री सुनिल जैन (बीड़ी वाले) और कोषाध्यक्ष श्री मूलचंद जैन (आलू वाले) व अन्य सदस्य श्री पवन कुमार जैन (गैस वाले) कोनार्क मेरठ, श्री श्रेयांस कुमार जैन मंत्री सन्मति सेवा संघ, मेरठ, श्रीमति प्रभा जैन, मुख्य ट्रस्टी श्री दिगम्बर जैन मंदिर पश्चिमी, कचहरी मार्ग, मेरठ, श्री प्रमोद कुमार जैन (कोयले वाले) एवं श्री विजय कुमार जैन, एडवोकेट, शारदा रोड, श्री अरविंद जैन, विजय नगर, मेरठ, श्री विनोद कुमार जैन (बावली वाले) पूर्व अध्यक्ष, जैन समाज वीरनगर, मेरठ एवं श्री राकेश कुमार जैन (धीरज पॉकेट बुक्स), ईश्वरपुरी, मेरठ का विशेष सहयोग प्राप्त हुआ जिनका में हृदय से आभार व्यक्त करता हूं।

इसके अतिरिक्त जिन बंधुओं ने इस पुस्तक के प्रकाशन में आर्थिक योगदान देकर इस पुस्तक के प्रकाशन को संभव बनाया हैं। उनका भी आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं, इसके साथ ही अत्यंत अल्प अवधि में पुस्तक के मुद्रण में सहयोगी श्री अनुराग वर्मा, यूनिक कम्प्यूटर सैंटर, शारदा रोड, मेरठ, श्री रमेश चंद जैन, प्रगति प्रिंटर्स, ट्रांसपोर्ट नगर, मेरठ एवं श्री विवेक जैन, अतुल प्रिंटर्स, पी.एल. शर्मा रोड, मेरठ की भी मैं प्रशंसा करता हूं।

274/1 'ज्योति' नई प्रेमपुरी
मेरठ

भूषण स्वरूप जैन
अध्यक्ष
आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज
साहित्य प्रकाशन समिति, मेरठ।

सुनील जैन
(बीड़ी वाले)

आभार

साधर्मी बंधुओं,

मैं अपने को गौरवान्वित प्रतीत कर रहा हूं कि मुझे परम पूज्य उपाध्याय श्री निर्णय सागर जी महाराज ने अपने मेरठ में वर्षायोग के अवसर पर आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज साहित्य प्रकाशन समिति का मंत्री बनाकर अपना आर्शीवाद प्रदान किया है जिसके लिये मैं उनके चरणों में नतमस्तक हूं। इस पुस्तक के प्रकाशन में मैंने श्री भूषण स्वरूप जैन अध्यक्ष जी के साथ मिलकर कार्य करके जो सफलता प्राप्त की है उसके लिये मैं उनको धन्यवाद देता हूं और प्रसन्नता व्यक्त करता हूं। साथ-साथ समिति के कोषाध्यक्ष श्री मूलचंद जैन एवं अन्य सदस्यों से भी जो सहयोग हमें प्राप्त हुआ है उसके लिये भी उनको धन्यवाद देता हूं।

इसके अतिरिक्त जिन बंधुओं ने पुस्तक के प्रकाशन में योगदान देकर इस कार्य को संभव बनाया है उनका मैं अपनी ओर से एवं साहित्य प्रकाशन समिति की ओर से आभार व्यक्त करता हूं और आशा करता हूं कि भविष्य में भी मुझे इस प्रकार के धार्मिक कार्यो में सहयोग प्रदान करते रहेंगे।

सुनील जैन (बीड़ी वाले)
मंत्री
आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज
साहित्य प्रकाशन समिति, मेरठ।

मन मन में हों शांतिसागर
घर घर में हों शांतिसागर

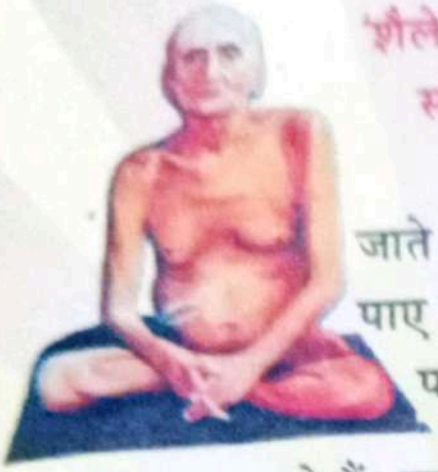

'शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साध्वो न हि सर्वत्र, चंदनं न वने वने ॥'

प्रत्येक पर्वत पर माणिक्य-रत्न नहीं पाए जाते हैं, प्रत्येक हाथी के मस्तक में गज-मोती नहीं पाए जाते हैं, प्रत्येक जंगल में चंदन के वृक्ष नहीं पाए जाते हैं; इसी प्रकार सभी जगह साधु-पुरुष नहीं पाए जाते हैं। कुछ लोग साधु होते हैं, कुछ साधु बन जाते हैं, और कुछ को साधु बनाया जाता है। इनमें सर्वश्रेष्ठ-श्रेणी के साधुओं में प्रथम-वर्ग के साधु आते हैं। परम पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी मुनिराज इसी प्रथम वर्ग के साधु रत्न थे। जिस प्रकार चन्दन स्वभाव से ही शीतल एवं सुगन्धित होता है, उसी प्रकार श्रेष्ठ साधु स्वभाव से ही साधु होते हैं।

'चंदन शीतलं लोके, चंदनादपि चन्द्रमा।
चंद्र-चंदन-द्वयोर्मध्ये, शीतलं साधुसंगतिः ॥'

लोक में चंदन को शीतल माना गया है, चंदन से भी अधिक शीतलता प्रदान करने वाला चन्द्रमा माना गया है, किन्तु चन्द्रमा और चंदन-इन दोनों की तुलना में साधु की संगति को अधिक शीतल माना गया है (चंदन और चन्द्रमा मात्र शारीरिक ताप को दूर करते हैं, जबकि साधु की संगति मानसिक और आध्यात्मिक ताप को दूर कर अनुपम शीतलता प्रदान करती है।)

पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी मुनिराज के चरण-सानिध्य में 13 वर्ष रहकर मैंने इस अनुपम-शीतलता का प्रत्यक्ष अनुभव किया है। वे अपने नाम के अनुरूप ही शांति और सौम्यता के सागर थे और उनके सम्पर्क में आने वाला प्रत्येक व्यक्ति इस अनपुम-शांति का किसी न किसी रूप में अवश्य अनुभव करता था।

–सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य श्री विद्यानंद जी मुनिराज

सृजन क्यों?

परम पूज्य राष्ट्र संत सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य गुरुदेव श्री 108 विद्यानन्द जी महाराज के शुभाशीर्वाद व प्रेरणा से हम लोग शास्त्रीनगर मेरठ में पंचकल्याणक सानन्द सम्पन्न हे. के बाद श्री अष्टापद (बद्रीनाथ) की यात्रा के लिए आदिम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव भगवान की चरण वंदना हेतु 21 अप्रैल को महावीर जयन्ती भवन से रवाना हुए। स्वास्थ्य यात्रा के अनुकूल नहीं था फिर भी आचार्य श्री के आशीर्वाद व संकेत से मन बना लिया और लगभग 1000 किलोमीटर की यात्रा मात्र 51 दिन में पूर्ण हुई। लगभग 8-9 दिन वहां रुककर क्षेत्र की भाव सहित बंदना की। वहां के निर्मल जल, पुण्य रज कण एवं स्वच्छ वायु से स्वास्थ्य अनुकूल हो गया। यात्रा अच्छी तरह सम्पन्न हुई। बद्रीनाथ (कैलाश पर्वत जो प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ स्वामी आदि असंख्यातासंख्यात मुनियों की निर्वाण भूमि है) की वंदना करके पुनः मंसूरी, देहरादून, जलालाबाद होते हुए शामली आये तब आचार्य श्री का मंगल आशीर्वाद पुनः प्राप्त हुआ। आचार्य श्री से चातुर्मास के सम्बन्ध में अनुज्ञा व आशीर्वाद मांगा तब परम पूज्य गुरुदेव ने यही निर्देश दिया कि अपनी व संघस्थ साधुओं के स्वास्थ्य की अनुकूलता देखकर तथा संयम की साधना व धर्म प्रभावना की दृष्टि से जहां उचित लगे वहां कर लो, मेरा आशीर्वाद है। इसके साथ-साथ तीन निर्देश और प्राप्त हुए–

प्रथम–नित्य ही प्रवचन का क्रम जारी रखो तथा प्रवचन में आध्यात्मिक चर्चा भी अवश्य करना चाहिए। इससे परिणाम बहुत विशुद्ध होते हैं, मनोबल सुदृढ होता है तथा विषम परिस्थितियों में समता भाव रखने की सामर्थ्य (शक्ति) प्राप्त होती है।

द्वितीय–विहार अपने स्वास्थ्य को देखकर शनैः-शनैः करें तथा आहार भी अपनी प्रकृति को व मौसम को देखकर समुचित ग्रहण करें, विशेष त्याग आदि अभी न करें, क्योंकि अभी गर्मी अधिक पड़ रही है।

तृतीय–इस वर्ष को प० पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज (दक्षिण वालों) की 131वीं जन्म जयन्ती होने से 19 जुलाई 2003 से 8 जुलाई 2004 तक संयम वर्ष के रूप में मनाना है। उनके सम्बन्ध में आयोजन व कार्यक्रम पूरे वर्ष तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में सम्पन्न होंगे। क्योंकि वर्तमान काल में श्रमण, श्रावक, विद्वान व श्रेष्ठी चारों वर्गों में शिथिलता आ रही है। अतएव उनकी चर्या, व्यक्तित्व उनकी संयम साधना व तपस्या समाज की दृष्टि में पुनः आये, जिससे समाज को एक नई दिशा प्राप्त हो तथा उक्त चारों वर्गों में विद्यमान शिथिलता भी दूर हो। अतः आपको भी प० पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 शांतिसागर महाराज के व्यक्तित्व को घर-घर तक व जन-जन तक भिजवाने हेतु उनके जीवन चरित्र से सम्बन्धित कोई पुस्तक लिखकर प्रकाशित कराना है। चित्र आदि भी अधिक से अधिक प्रकाशित कराकर नगर-नगर, ग्राम-ग्राम, शहर-शहर ही नहीं अपितु घर-घर तक भिजवाना है। स्थान-स्थान पर सभायें, विद्वत गोष्ठी व प्रवचन भी रखना है। परमपूज्य गुरुदेव आचार्य श्री ने आशीर्वाद, निर्देश व कुछ साहित्य भी भेजा था, उनका संकेत भी मेरे लिए आदेश व आशीर्वाद है। उनकी मंगल प्रेरणा व आशीर्वाद इस कृति के सृजन का मूल कारण बना, इसके साथ-साथ मेरे अंतस की श्रद्धा भी इस कार्य में निमित्त बनी। इसके उपरान्त दिल्ली से आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज के जीवन चरित्र व व्यक्तित्व से सम्बन्धित कुछ पुस्तकें, तस्वीरें, कलेन्डर व आलेख भी प्राप्त हुए। आचार्य गुरुदेव श्री विद्यानन्द जी महाराज ने समाज को इस वर्ष एक नारा भी दिया है–

"घर-घर में हो शांतिसागर, मन-मन में हो शांतिसागर।"

संसार में 4 प्रकार के मनुष्य होते हैं–1. किसमिस के समान, 2. नारियल के समान, 3. बेर या आम के समान, 4. सुपाड़ी के समान।

1. किसमिस के समान का आशय है अंतरंग व बहिरंग दोनों तरफ से सरल, सहज, मिठासयुक्त, विनम्र हृदय, परोपकारी, दूसरों को दुःखी देख जिनका चित्त करुणार्द्र हो जाता है। जिनका हृदय जल के समान व नवनीत जैसा कोमल है। ऐसे स्वभाव वाले मानव-सन्त, महात्मा, ऋषि, मुनि, फकीर, संन्यासी, वैरागी, साधु व सज्जन ही होते हैं। ये अपने साथ बुराई करने वाले के प्रति भी भलाई करते हैं। जिस प्रकार किसमिस में कांटा भी चुभेगा तब भी किसमिस कांटे की नोक को तोड़ेगी नहीं मिष्ठ ही करेगी।

परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज इसी प्रकार की प्रवृत्ति के भद्र-सन्त पुरुष थे। द्वितीय प्रकार के मनुष्य होते हैं, नारियल के समान जो कि ऊपर से रूखे व कठोर होते हैं किन्तु अंतरंग में जल के समान नम्र एवं सरल चित्त वाले होते हैं। ऊपर से देखकर लगेगा कि ये तो बहुत क्रोधी हैं, या कठोर चित्त हैं, किन्तु उनका अन्तःकरण बहुत करुणार्द्र या दयार्द्र होता है। इस प्रकार का स्वभाव पापभीरू, धर्म भावना से युक्त किसी ईमानदार सत्यार्थी व स्वपरहित में समर्पित अधिकारी का होता है। बाहर से कठिन होकर भी अन्दर मानवता से युक्त होने से जलवत् होता है। तृतीय प्रकार के मनुष्य जघन्य हैं जिनका कि स्वभाव बेर या आम जैसा होता है। अपने ऊपरी मधुर व्यवहार से मृदु भाषण से या चापलूसी से किसी को अपने वश में कर लेते हैं। किन्तु अंतरंग में वैसे नहीं होते। उनका अंतरंग बड़ा कठोर होता है। वक्त पड़ने पर वे पत्थर से भी अधिक कठोर दिलवाले बन जाते हैं। ऐसे व्यक्तियों से कभी मित्रता नहीं करनी चाहिए। कभी इन पर विश्वास भी नहीं किया जा सकता। ऐसे मित्रों की मित्रता से तो मित्रविहीन रहना अच्छा है। ये निपट स्वार्थी, छल-कपट, वंचना व प्रपंच जाल से युक्त होते हैं। इनसे मित्रता वही कर सकता है जो इनकी श्रेणी में आता हो। चतुर्थ प्रकार के मनुष्य वे हैं जिनका स्वभाव सुपाड़ी के समान कठोर होता है। ये बाह्य व्यवहार में भी कठोर होते हैं और अंतरंग में भी कठोर होते हैं। इन पर इनके घर के लोग भी विश्वास नहीं करते हैं, ये अधम प्रकृति के मनुष्य कहलाते हैं। दुष्टता इनके अंतरंग व बहिरंग यानि सर्वांग में ही भरी होती है ये कभी किसी से मित्रता कर ही नहीं पाते।

परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज प्रथम प्रकृति के सरल चित्त, उदार व विशाल हृदय, सत्यवादी व निर्भीक वक्ता बचपन से ही रहे, इन्होंने जीवन में कभी भी धोखा देकर अपना काम सिद्ध नहीं किया। इन्होंने सदैव राजमार्ग से ही जीवन-यापन किया। अपवाद मार्ग का सहारा शायद ही कदाचित् लिया होगा।

प्रस्तुत कृति "हमारे आदर्श" के प्रकाशन में सहयोगी संघस्थ ऐ० श्री विमुक्त सागर जी, क्षु० विशंक सागर जी, नित्यानन्द सागर जी व संघस्थ सभी त्यागी व्रतियों का जो सहयोग प्राप्त हुआ, एतदर्थ उन्हें सुसमाधिरस्तु आशीर्वाद भविष्य में भी वे जिनवाणी की सेवा व जिनधर्म की प्रभावना इसी प्रकार से करते रहें। प्रकाशक आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज साहित्य प्रकाशक समिति के सभी सदस्यों को (अध्यक्ष—भूषण

स्वरूप जैन, (सेवा निवृत वरिष्ठ प्रबन्धक, पी.एन.बी.,) मंत्री–सुनील जैन, (बीड़ी वाले) कोषाध्यक्ष–मूलचन्द जी (आलू वाले) एवं अन्य सभी श्रावकों को धर्म वृद्धि आशीर्वाद मुद्रक–राकेश कुमार जैन (धीरज पॉकेट बुक्स) एवं प्रूफ रीडिंग में सहयोगी पं० पवन कुमार जी एवं नाम की चाह व कामना से रहित इस कृति की पाण्डुलिपि तैयार करने वाले सभी महानुभावों को भी हृदय से शुभाशीप।

इस कृति के सृजन में–पं० सुमेरचन्द दिवाकर जी की कृति "चारित्र चक्रवर्ती" व "आध्यात्मिक ज्योति", जैन मित्र विशेपांक, आचार्य श्री शांतिसागर विशेपांक जैन गजट हीरक जयंती विशेपांक इत्यादि साहित्य का सहारा व सहयोग लिया है, एतदर्थ उस साहित्य के लेखक व सम्पादकों का भी हृदय से आभारी हूं।

इस कृति के सृजन में जो कुछ अच्छाइयां हैं वह सब प० पू० राष्ट्र सन्त सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य गुरुदेव श्री विद्यानन्द जी महाराज का आशीर्वाद व आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के समीचीन गुण मानकर अंगीकार कर लेना है, जो त्रुटियां हैं, वह सब मुझ छद्मस्थ व अल्पज्ञ का प्रमाद, मानकर क्षमा कर देना तथा संशोधन कर समीचीन अर्थ को ही ग्रहण करना, यदि आप इस कृति से यत्किचिंत् भी लाभान्वित हुए। संयम-त्याग, नियम-यम व धर्म मार्ग पर आपने एक भी कदम बढ़ाया तो हम अपना यह लघु प्रयास सफल व सार्थक समझेंगे।

"अलमति विस्तरेण';'

श्री शुभमिती कार्तिक सुदी 13 गुरुवार
वी० नि० 2530 वि० सं० 2060
शास्त्रीनगर मेरठ (उ०प्र०)

ॐ ह्रीं नमः
जिनचरणाम्बुज चंचरीकः, साधनेच्छुकः
संयमानुरक्तः, कश्चिदल्पज्ञ श्रमणः
महावीर जैन मंदिर, डी० ब्लाक
शास्त्रीनगर मेरठ (उ०प्र०)
6 नवम्बर 2003 गुरुवार

प० पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 श्री शांति सागर जी महाराज का संक्षिप्त जीवन परिचय

आचाराणं विघातेन, कुदृष्टिनां च सम्पदा।
धर्म ग्लानि परि प्राप्त, मुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमा : ॥ (प.पु.)

जिस समय धर्म की हानि होती है,सदाचरण का विघात हो जाता है। धर्मात्मा जन अपनी साधना से विचलित होने लगते हैं। मिथ्यादृष्टियों की जब बहुलता हो जाती है, **सामान्य जन** भी धर्म के प्रति ग्लानि से भर जाते हैं। उस समय कोई महापुरुष/जिनोत्तम (तीर्थंकर) जन्म लेकर इस वसुधा पर धर्म का प्रवर्तन करते हैं।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के मोक्ष जाने के बाद तीन अनुबद्ध केवली, पांच श्रुत केवली, ग्यारह श्रमण, ग्यारह अंग व दस पूर्व के धारी हुए। इनके पश्चात् पांच आचार्य ग्यारह अंग के ज्ञाता हुए, इसके उपरान्त शेष जिन श्रमण अंगांश के ज्ञाता क्रमशः हुए, तत्पश्चात् पंचम काल का प्रवर्तन होते-होते धर्म मार्ग में शिथिलता का आना प्रारम्भ हुआ एवं धर्म रूपी अपूर्व दीपक का प्रभाव कम होने लगा।

धर्म की ओर ह्रासमान यह काल निरन्तर गतिशील ही रहा, वि०सं० पन्द्रहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक शुद्ध श्रावक धर्म एवं निरतिचार मुनि धर्म का पालन करने वाले महानुभाव अत्यल्प ही रह गये थे। वीर निर्वाण संवत चौबीस सौ (2400) व्यतीत होने पर शिथिलाचरण चरम सीमा पर था, उस समय का वातावरण ही धर्म विरोधी वातावरण था। परिस्थिति वश दिगम्बर जैन सन्तों को भी आहार चर्या के समय वस्त्र अंगीकार करने पड़ते थे। भट्टारक परम्परा पुर जोर पर थी। यवन व गोरंगों ने भारत पर अपना अधिकार जमा लिया था, व्यक्तियों की धार्मिक स्वतंत्रता भी तब छिन चुकी थी। अहिंसा प्रेमी व दयालु, करुणाशील, भद्र परिणामी, मन्द कषायी महानुभाव धार्मिक अनुष्ठानों को स्वतंत्र रूप से सम्पन्न नहीं कर सकते थे। उन्हें बरबस अपनी भावनाओं को दबाना पड़ता था। मिथ्यात्व व अज्ञान के

अंधकार में भ्रमित मानव मात्र का उद्धार करने हेतु दक्षिण भारत की भूमि में एक अपूर्व चैतन्य ज्ञान पुञ्ज उत्पन्न हुआ।

दक्षिण भारत में कर्नाटक प्रान्त अपने आपमें एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि यह भारत वर्ष रूपी महापुरुप के पुनीत चरणों के रूप में पूज्य है। भारतवर्ष में मस्तिष्क, हाथ, हृदय, उदर या सिर की पूजा नहीं, अपितु चरणों की पूजा की जाती है, क्योंकि चरण ही मंजिल तक पहुंचाते हैं, चरण ही आचरण के जनक हैं। हिमालय पर्वत भारत का भाल मात्र होने से पूज्य नहीं है, अपितु प्रथम तीर्थंकर ऋपभ देव भगवान आदि असंख्यात मुनिराजों की निर्वाण स्थली होने से पूज्य है। कर्नाटक प्रान्त भी महा मनीपी प्रज्ञा पुंज श्रुतधराचार्यों की जन्म-स्थली होने से चरण की तरह पूज्य है।

कर्नाटक प्रान्त के बेलगांव जिले के चिकोड़ी तहसील में वेदगंगा व दूध गंगा नदियों के संगम स्थल पर भोजग्राम (कुंभोज) नामक मनोहर ग्राम है, यहां की जनता धार्मिक संस्कारों से परिपूर्ण थी। यहां धर्म भावनाओं से परिपूर्ण सुधी एक जमींदार था, जिसको आदर के साथ भीमगोडा पाटिल कहा जाता था, इनकी धर्मपरायण पत्नी थी श्रीमती सत्यवती (सत्यभामा) जिन्हें सरस्वती देवी भी कहा जाता था। ये दम्पत्ति अपने नाम के अनुसार ही श्रेष्ठतम गुणों के धारक भी थे। भीम की तरह वलवान पराक्रमी, पुरुपार्थी क्षत्रिय भीम गोडा/भीम कुमार एक छोटे राजा की तरह मान-सम्मान को प्राप्त करते थे। श्रीमती सत्यवती भी सत्यवादी, सत्य-प्रिय साक्षात् ज्ञान की देवी की तरह थीं, वे भद्र परिणामी, पापभीरू, धर्मवत्सला तो थीं ही साथ ही साथ वे संयम की भावना से परिपूर्ण न्यायप्रिय नारी रत्न थीं। इन दम्पत्ति की प्रथम व द्वितीय संतान सुयोग्य पुत्र थीं, जिनका नाम था आदिगोडा व देवगोडा (मुनि वर्धमान सागर) तृतीय संतान ज्यों ही गर्भ में आई तब इस दम्पत्ति (पति-पत्नी) के परिणाम कुछ विशेष ही धर्म साधना व आत्म-कल्याण के बनने लगे। गर्भ में आते ही मां सत्यवती जी को निर्वाण क्षेत्र व अतिशय क्षेत्रों की तीर्थ-यात्रा एवं जिनेन्द्र भगवान का पंचामृत अभिषेक करने के परिणाम हुए। एक सौ आठ दल के कमल से पूजा करने का दोहला हुआ, जिसकी पूर्ति हेतु कोल्हापुर के समीपस्थ तालाब से विशेष व्यय व प्रबन्ध के द्वारा कमल पुष्प लाया गया और जिनेन्द्र भगवान की सत्यवती ने भक्ति पूर्वक पूजा की। इस तृतीय संतान का जन्म आपाढ़ कृष्ण 6 शाके 1794-25 जुलाई सन् 1872 बुधवार वि०सं० 1929 को भोज से लगभग 4 मील पर स्थित **येलगुड**

ग्राम में/जहां कि सत्यवती के माता-पिता का घर था अर्थात् मातुल गृह में हुआ। जन्म से इस तृतीय सन्तान ने मातुलगृह को पवित्र किया एवं बचपन की बाल-क्रीड़ाओं से पितृगृह को ही नहीं, अपितु नगर तक को भी धन्य किया।

यह तृतीय संतान तीन रत्नों की साधना करने वाली, तीन लोक संबंधी समस्त संसारी जनों की पूज्य एवं देव शास्त्र गुरू रूपी तीन परम रत्नों की उपासक होने से ही मानो तृतीय स्थान पर जन्मी थीं। इसके उपरान्त श्रीमान् भीमगोडा व श्रीमती सत्यवती ने कुम्भगोडा नामक पुत्र एवं कृष्णाबाई नामक कन्या को जन्म दिया। तृतीय संतान का नाम पुरोहितों ने लग्न, राशि व ग्रहों की गति के अनुसार दामोदर रखा। क्षत्रिय वंश, चतुर्थ जैन जाति में उत्पन्न इस पुण्यवान बालक का नाम शांति स्वभाव होने से सातगोडा प्रसिद्ध हुआ।

पूत के पांव पालने में–''होनहार विरवान के होत चीकने पात'' कहावत के अनुसार कुमार **सात गोडा** बचपन से कुशाग्र बुद्धि, करुणाशील, न्यायप्रिय, सत्यवादी, निर्भीक एवं वैराग्यवान थे। बाल्यावस्था से ही उनका शरीर सुडौल, पुष्ट एवं सुसौम्य था। उनके शरीर में असाधारण बल था। अपने से बड़े जनों का आदर व सम्मान करते थे। वे माता-पिता के आज्ञाकारी सुयोग्य पुत्र थे।

दाम्पत्य जीवन–सात गोडा का विवाह 9 वर्ष की बाल्यावस्था में 6 वर्ष की बालिका के साथ सम्पन्न हुआ, किन्तु छः माह के उपरान्त बालिका का मरण हो गया। तब तक उन्होंने विषयों का सेवन नहीं किया और पत्नी के देहान्त के उपरान्त उन्होंने शादी नहीं करायी। अतः वे विवाह होने के बावजूद भी बाल ब्रह्मचारी ही रहे। यही बालक सातगोडा बाद में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांति सागर जी महाराज के नाम से भारतवर्ष में पूज्यता को प्राप्त हुए।

असाधारण शारीरिक बल–कुछ समय बाद वे जिनेन्द्र भगवान की पूजा भक्ति एवं स्वाध्याय आदि क्रियाओं में संलग्न हो अपनी मानव पर्याय को सार्थक करने में तत्पर हुए। उनके शरीर में बचपन से अतुल बल था। वे कुश्ती में अपने से दुगुनी उम्र वाले बालक को भी देखते-ही-देखते धराशायी कर देते थे। यदि वे किसी व्यक्ति के हाथ का पंजा पकड़ लें तो वह छुड़ाने में समर्थ नहीं हो पाता था, नदियों में तैरने का तो उन्हें शौक था। वे घन्टों-घन्टों तक विभिन्न प्रकार की मुद्राओं में तैरते थे। चार मन के चावल के बोरा को वे सहज रूप में ही उठा लेते थे। इतना

ही नहीं वे करुणार्द्र चित्त होने से दो बैलों द्वारा खींची जाने वाली मोंट को बैलों को अलग कर स्वयं खींच लेते थे। दोनों पैरों को जोड़कर बारह (12) हाथ लम्बी जगह को सहजता में ही लांघ जाते थे।

ज्ञान प्रवीणता एवं कला-कौशल–बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि होने से उन्हें कोई भी सुज्ञान की बात सहज ही याद हो जाती थी। अश्व-परीक्षण, बैल परीक्षण, गाय, भैंसादि के परीक्षण में भी वे निपुण थे। उनके द्वारा अनुमान ज्ञान से यह बताया जाना कि अमुक अश्व दौड़ में जीतेगा या अमुक बैल या गाय श्रेष्ठ है, सत्य ही सिद्ध होता था। उनका निशाना अचूक था। एक बार बन्दूक की गोली से एक ही वार में नारियल को वृक्ष से छेद कर अलग कर दिया। उसके बाद कभी बन्दूक छुई भी नहीं, इसके साथ-साथ वे कृपि संबंधी कार्यों में तो सभी नागरिकों के लिए आदर्श व सम्मानीय पुरुष थे।

आहार-व्यवहार एवं आदर्श आचरण–वे बचपन से शांत प्रकृति के थे। हास-परिहास लौकिक आमोद-प्रमोद से दूर रहते थे, उन्हें किसी प्रकार का शौक नहीं था। भोजन शुद्ध, प्रासुक, मर्यादित साधारण सात्विक ही करते थे, दाल, रोटी, सब्जी, दूध-दही, मटा, चावल आदि इनका भोजन था। अति शीतल या अधिक गर्म, चटपटे मसालेदार, पदार्थों के प्रति भी उनकी कोई रुचि/आसक्ति नहीं थी। आहार/भोजन करते समय जो कुछ भी थाली में आ जाता उसे ही प्रमुदित मन एवं मौन से ग्रहण करते थे। संसार शरीर भोगों से विरक्त रहे, माता-पिता के द्वारा आग्रह करने पर भी पुनः शादी करना स्वीकार नहीं किया। जब परिवार वालों ने अधिक आग्रह किया तो आपने मुनि दीक्षा लेने का अपना संकल्प सुना दिया। जिससे पुनः कोई शादी का आग्रह नहीं कर सका। अपने छोटे भाई-बहनों की शादी में भी कभी शरीक/शामिल नहीं हुए। इनका व्यवहार प्रिय, मधुर एवं सभी को अपना बनाने वाला था। सभी के प्रति आत्मीयता का भाव रखते थे। लौकिक शिक्षा कक्षा तीसरी तक होने पर भी स्मरण शक्ति सभी को आश्चर्य पैदा करने वाली थी। माता के द्वारा काते गये सूत की खादी से निर्मित धोती अंगरखा एवं फेंटा बांधते थे। बाल्यावस्था से मखमली गद्दे, दुकूल, डनलप के गद्दे व तकिये आदि का प्रयोग कभी नहीं किया और ना ही कभी जीवन में मद्य, मांस, मधु, धूम्रपान, पान-मसाला, चमड़े की वस्तुओं का प्रयोग किया। उनकी जीवन-चर्या सद्गृस्थों के लिए आदर्श रूप में ग्राह्य थी। वे एकांत प्रिय, अजातशत्रु थे। उनका धैर्य असाधारण था, वे कभी किसी की नकल

नहीं करते थे, आर्त-रौद्र ध्यान से रहित प्रायः धर्म ध्यान में ही संलग्न रहते थे।

करुणाशील–स्वभाव से ही उनके अंतरंग में प्राणी मात्र के प्रति करुणा एवं दया का भाव विद्यमान था, किसी भी दीन-दुखी प्राणी को देखकर उनका चित्त दयार्द्र हो जाता था। वे हिन्दु मंदिरों में व जंगलों में एकान्त जन शून्य स्थानों में भी निर्भीक हो वहां पहुंचते थे, जहां लोग पशुबलि चढ़ाते थे और वे उन्हें अपने आत्मोदभूत धार्मिक उपदेश देकर हिंसा से विरक्त करते। बलि चढ़ाने के स्थान पर उन्होंने वहां के लोगों को जीव वध न करने का संकल्प दिलाया। पक्षियों को कभी भी अपने खेत से दाना चुगने से नहीं उड़ाते थे और इतना ही नहीं, पशु पक्षियों के लिए पानी पीने की भी व्यवस्था करते थे। पक्षियों के द्वारा चुगने पर उनके खेत की फसल में कभी कमी नहीं होती थी, अपितु अन्य व्यक्तियों की फसल से भी अच्छी/अधिक ही होती थी।

मुनि-भक्ति एवं सत्संग का फल–बाल्यकाल से ही मुनियों के प्रति इनकी श्रद्धा भक्ति थी, वे मुनियों की सेवा-वैय्यावृत्ति करते, उन्हें आहार भी देते थे, उनके घर सदैव शुद्ध भोजन बनता था। वे आहारोपरान्त मुनियों को कन्धे पर बैंठा कर वेदगंगा व दूध गंगा भी पार कराते थे। मुनियों की सेवा व सत्संग से इनके अन्दर धर्म का बीज अंकुरित हो चुका था। कमण्डलु में पानी भरते-भरते अपने मन को भी ज्ञान से भरते थे। आत्म-घात का प्रयास करने वाले मिथ्यादृष्टि, दुखी व पापिष्ठ रुद्रप्पा ब्राह्मण को भी इन्होंने सत्य धर्मानुयायी बना दिया। वह दिन से भोजन करता था एवं पानी छानकर पीता था। अंहिसा धर्म में, णमोकार मंत्र में, वीतरागी देव व निर्ग्रन्थ गुरु में आस्था व रुचि रखता था। प्लेग से उसकी मृत्यु हो गयी, मरते समय भी महाराज की प्रेरणा से ग्रहण मंत्र को या सम्यक्त्व को उसने नहीं छोड़ा और समता भाव से शरीर का त्याग किया।

'पिता श्री' (भीमगोडा जी) की समाधि–आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज के पिता श्री भीमगोडा वास्तव में ही भीम की तरह पुरुषार्थी पराक्रमी थे, उनका शरीर छत्रपति शिवाजी की तरह बलिष्ठ था। वे राजा की तरह शासन करने वाले जमींदार थे। उन्होंने **श्रवण बेल गोल** के दर्शन के बाद घी, दूध, दही आदि का आजीवन त्याग कर दिया था, 16 वर्ष तक उन्होंने एकाशन किया, ब्रह्मचर्य व्रत की साधना भी की। उन्होंने **यम सलेखना** ग्रहण की, हितैषी जनों ने अनुरोध भी

किया कि अभी यम सल्लेखना न लें तो उन्होंने बताया कि हमें आभास होता है कि हमारी आयु अधिक नहीं है। एक वर्ष तक उन्होंने नित्यएक कटोरी प्रमाण भोजन किया। आचार्य शांति सागर जी महाराज (सातगोडा) ने अपने पिता जी की समाधि अच्छे से करायी, वे इसलिए पूर्व में दीक्षा नहीं ले सके थे। पिताजी ने कहा कि तुम्हारे दीक्षा लेने से हमें संक्लेश होगा। अतः उन्होंने कुछ समय के लिए दीक्षा लेने का विचार छोड़ दिया। भीमगोडा जी ने अन्त समय में यथा शक्य सभी वस्त्रों का व परिग्रह का त्याग कर एवं केश लोंच कर, पद्मासन लगाकर प्रातः काल में पंच नमस्कार मंत्र का जाप करते हुए अपने शरीर का त्याग किया। सात गोडा (आचार्य शांति सागर जी ने) ने उस समय कोई शोक नहीं किया, अपितु उत्तम समाधि होने से उन्हें प्रसन्नता थी कि एक जीव संसार सागर के बीच से निकलकर किनारे के समीप पहुंच रहा है।

मां (सत्यवती जी) की समाधि–माता सत्यवती जी, धार्मिक, सत्यवादी, करुणाशील, दयालु, उदारमना, आदर्श महिला थीं, इन्होंने जीवन भर गृहस्थावस्था में रहकर धर्म साधना की, जिनेन्द्र भगवान की भक्ति पूजा की, साधुओं को आहार दान दिया एवं स्वाध्याय, व्रत उपवास आदि के माध्यम से धर्म साधना करते हुए सन् 1912 में माघ के महीने में समाधि मरण को विधि पूर्वक प्राप्त किया। मृत्यु के 12 घन्टे पूर्व बुद्धि पूर्वक समस्त परिग्रह का त्याग कर उत्तम समाधि को प्राप्त किया।

घर में ही बैरागी–आचार्य शांति सागर जी महाराज (सातगोडा) बचपन से ही वैरागी थे, उन्होंने सांसारिक प्रपंचों में फंसना कभी मन से स्वीकार नहीं किया, शोक-फंसन, भोग-बिलासी जिन्दगी से कोशों दूर थे, जिस प्रकार भरत चक्रवर्ती घर में रहते हुए भी वैरागी थे, उसी तरह आचार्य श्री भी वैरागी थे। उन्हें स्वाध्याय के प्रति बड़ी रुचि थी, ये स्वाध्याय सुनने के लिए नित्य किन्हीं पं० जी के पास 6-7 मील पैदल चलकर जाते थे। यदि उन्हें कभी दुकान पर बैठना पड़ता तो वे ग्राहकों से कहते जितना कपड़ा लेना है अपने हाथ से ले लो, वही खाते में अपने हाथ से ही जो लिखना है, सो लिख दो। कुम्भगोडा से मोल-भाव करना। वे बचपन से ही साधु प्रकृति थे। साधु तीन प्रकार (1. साधु होते हैं, 2. बनते हैं, 3. बनाये जाते हैं) के होते हैं।

प्रथम वे जो बचपन से ही साधु मना/भद्र परिणामी होते हैं, जो कि पूर्व भव के संस्कार अपने साथ लेकर आते हैं, उनके जीवन में पूर्व भव के संस्कारों का

प्रभाव अधिक होता है, एक भव का प्रभाव कम ही होता है। आचार्य शांति सागर जी प्रथम प्रकार के साधु थे। **द्वितीय** प्रकार के साधु वे होते हैं, जो साधु बनते हैं उनके जीवन में कोई ऐसी विषम परिस्थितियां उत्पन्न हुईं, जिससे वे संसार, शरीर, भोगों का मोह त्याग कर विषय-कषायों से व पापों से विरक्त हो गये–जैसे कि अंजन चोर, राजा मधु, चिलाती पुत्र, चारुदत्त, विशाख भूति इत्यादि। **तृतीय** प्रकार के साधु वे होते हैं, जिन्हें साधु बनाया जाता है, वे स्वयं के परिणाम से साधु नहीं बने उन्हें जबरदस्ती साधु बना दिया, साधु का भेष आरोपित कर दिया बाद में वे सच्चे साधु बन गये। जैसे–पुष्पडाल, भवदेव, नंदिमित्र, वसुमित्र इत्यादि।

क्षुल्लक दीक्षा–आचार्य शांति सागर जी महाराज ने गृहस्थावस्था में रहते हुए भी अनशन, ऊनोदर, रस परित्याग आदि तप करना प्रारम्भ कर दिया था। वे प्रायः नंगे पैर ही भ्रमण करते थे, नित्य स्वयं अपनी दुकान पर बैठकर 2-3 घन्टे तक स्वाध्याय करते थे, जिसे सुनने के लिए लगभग 15-20 महानुभाव नित्य आते थे। वे सदाचरण व देश संयम के साथ गृहस्थावस्था में लगभग 42-43 वर्ष तक धर्मध्यान **में** संलग्न रहे, इसके उपरान्त लगभग 43 वर्ष की **अवस्था में** ज्येष्ठ सुदी 14 वि०सं० 1972 अर्थात् 25 जून सन् 1915 में शुक्रवार के दिन उत्तूर ग्राम में देवेन्द्र कीर्ति मुनिराज से ग्यारह प्रतिमा के व्रत स्वरूप क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की (कोपीन, चादर, पिच्छी, कमण्डल) व कुछ ज्ञानार्जन हेतु शास्त्रों के अतिरिक्त उन्होंने समस्त बाह्य परिग्रह का त्याग कर दिया और उनके गुरु देवेन्द्र कीर्ति (देवप्पा स्वामी) महाराज ने उनका नाम दिया क्षुल्लक शांति सागर।

ऐलक दीक्षा–आचार्य शांति सागर जी महाराज ने क्षुल्लक अवस्था में लगभग 3½ वर्ष तक साधना की, उत्तूर ग्राम में क्षुल्लक दीक्षा लेकर कागल, कोगनोली, कुंभोज एवं जैनवाड़ी इन चार स्थानों पर चातुर्मास किया। जैन महानुभावों से मिथ्यात्व की क्रियाओं का त्याग करवाया, कुदेव की अर्चना को बन्द करवाकर उन्हें सच्चे देव, वीतरागी, सर्वज्ञ हितोपदेशी की पूजा करना सिखलाया, तत्पश्चात् समडोली के श्रावक उन्हें गिरनार जी की वंदना हेतु ले गये, वहां क्षेत्र पर पहुंचते ही उन्होंने परम विशुद्ध परिणाम होने से चद्दर का त्याग कर दिया अर्थात् पौष सुदी 14 (चौदस) वि०सं० 1975 में (15 जनवरी सन् 1919) बुधवार को नेमिनाथ भगवान की साक्षी में स्वतः

ही ऐलक दीक्षा ग्रहण कर ली।

मुनि दीक्षा–लगभग 13½ माह तक ऐलक अवस्था में साधना की, पैदल विहार करना, केशलोंच करना, कर पात्र में ही एक बार भोजन करना इत्यादि धर्म साधना करते हुए जिन धर्म की प्रभावना की और यरनाल में जिन बिम्ब पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर श्री देवेन्द्र कीर्ति मुनिराज से फाल्गुन सुदी 13 (तेरस) वि.सं. 1976 (2 मार्च 1920) मंगलवार को मुनि दीक्षा ग्रहण की। मुनि दीक्षा लेकर महाराज श्री ने नाना प्रकार के उपसर्ग परीषहों को समता से सहन करते हुए संयम साधना व जिन धर्म प्रभावना की। वे ख्याति, पूजा, लाभ व पद-प्रतिष्ठा के लोभ से रहित थे, वे भीड़ जोड़ने के लिए कोई चमत्कारी या प्रदर्शन रूप क्रिया नहीं करते थे। एक बार जब किसी सज्जनने उनसे कहा कि आज पंचम काल में आप कुछ चमत्कार दिखाओ तो वे बाले, मैं कोई मदारी या बहूरूपिया थोड़े हूं, जो भीड़ जोड़ता फिरूं।

उपसर्ग एवं परीषहों का जीतना–आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज मुनि अवस्था में लगभग साढ़े चार वर्ष तक रहे, उन्होंने प्रथम चातुर्मास कोगनोली में, द्वितीय नसलापुर में, तृतीय ऐनापुर में, चतुर्थ कोन्नूर में किया था। इन चार वर्षों में उन्होंने नाना प्रकार के उपसर्गों को सहन करते हुए, संयम साधना व जिन धर्म की प्रभावना की। उन्होंने मुनि दीक्षा लेने के बाद कभी वस्त्र को पहन कर आहार नहीं किया, यद्यपि उस समय परिस्थिति वश मुनिराज/भट्टारक आहार के समय वस्त्र ग्रहण कर लेते थे, किन्तु आचार्य शांति-सागर जी महाराज से इनके गुरु महाराज ने कहा कि शांति-सागर आहार के लिए चलो और वस्त्र ग्रहण कर लो, तो उन्होंने अपने गुरुजी से समाधि की प्रार्थना की। क्योंकि वे गुरुजी की आज्ञा उल्लंघन नहीं कर सकते थे और न ही मुनि अवस्था में वस्त्र पहन सकते थे, तब तीन दिन के उपवास के बाद वे दिगम्बर अवस्था में ही आहार हेतु निकले, 100-150 (सौ, डेढ़ सौ) श्रावक उन्हें चारों तरफ से घेरकर चौके तक ले गये, उस दिन बहुत समय के बाद कोई साधु दिगम्बर अवस्था में आहार के लिए निकले थे। उसके बाद उन्होंने जैन धर्म की धूम मचा दी। तब से दिन दूनी रात चौगुनी धर्म प्रभावना दक्षिण भारत में हुई।

आचार्य पद एवं अन्य उपाधियां–सन् 1924 में महाराज का चातुर्मास समडोली में था, उस समय उन्हें समाज व चतुर्विध संघ के द्वारा गुरु आज्ञा से आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। आश्विन सुदी 11 (एकादसी) वि.सं. 1981 (8 अक्टूबर 1924 में) बुधवार को उन्हें आचार्य पद से विभूषित किया गया। इसके उपरान्त विभिन्न स्थानों पर चातुर्मास करते हुए विभिन्न प्रकार की उपाधियों से इन्हें विभूषित किया गया। सन् 1937 में गजपंथा जी में समाज व चतुर्विध संघ के द्वारा इन्हें चारित्र चक्रवर्ती जैसी महानतम उपाधि से विभूषित किया गया। क्योंकि ये प्राणी संयम व इन्द्रिय संयम का पालन करने में मुनि पुंगव थे, जैसे मनुष्यों में चक्रवर्ती होता है, इसी प्रकार वे चारित्रवानों एवं श्रमणों में चक्रवर्ती के समान श्रेष्ठ थे।

व्रत उपवास एवं जाप साधना–आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज ने अपने जीवन में, चारित्र शुद्धि व्रत, सोलह कारण, तीस चौबीसी व्रत, कर्म दहन व्रत, सिंह निष्क्रीड़ित व्रत, श्रुत पंचमी व्रत, पर्यूषण व्रत, विद्यमान तीर्थंकरों के व्रत, अष्टाह्निक व्रत, सिद्धों के व्रत, गणधर वलय के व्रत किए तथा इसके अतिरिक्त अन्य उपवास भी किये। इस प्रकार उनके द्वारा किये गये उपवासों की कुल संख्या (1234 + 720 + 468 + 220 + 256 + 36 + 20 + 336 + 40 + 8 + 8 + 6372 = 9938) लगभग 10,000 (दस हजार) के करीब थी। उन्होंने अपने जीवन में णमोकार मंत्र की लगभग 9 करोड़ (नौ करोड़) जाप कीं तथा अन्य मंत्रों की भी यथा योग्य जाप कीं। उनका अधिकांश समय जाप, ध्यान व स्वाध्याय में ही व्यतीत होता था।

संयमी जीवन में उपसर्ग–आचार्य शांति सागर जी महाराज ने संयमी जीवन में देव, तिर्यंच एवं अचेतन कृत नाना प्रकार के उपसर्गों को समता से सहन किया। कई बार शेर इनके पास आकर घन्टों तक बैठा रहा, कई बार सर्प-बिच्छु के उपसर्ग सहे, अनेकों बार चींटियों ने इन पर उपसर्ग किये तथा दुष्ट जनों के द्वारा किये गये उपसर्ग को भी आचार्य श्री ने शांति भाव से सहन किया। आचार्य शांति सागर जी महाराज यथा नाम तथा गुणों के धारक थे। वे वास्तव में ही शांति के कोष थे, कोई भी उनके पास आकर बैठता तो उसे परम शांति का अनुभव ही होता। प.पू. गुरु देव राष्ट्र सन्त, सिद्धान्त चक्रवर्ती विद्यानन्द जी महाराज स्वयं अपने अनुभव की बात बताते हैं कि वहां 13 वर्ष (तेरह वर्ष) रहकर मैंने अनुपम शांति का अनुभव

किया था।

समाधि की साधना–आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज ने अपने संयमी जीवन में ग्राम-ग्राम, नगर-नगर, पद विहार करते हुए अपनी पद रज से भारत वर्ष के कई प्रांतों को पवित्र किया। कर्नाटक, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार (छत्तीस गढ़ भी तब पृथक प्रान्त नहीं था) (झार खण्ड भी तब वह भी पृथक प्रान्त नहीं था) हरियाणा, गुजरात आदि प्रान्तों में जिन धर्म की अभूतपूर्व प्रभावना की अनेकों निर्वाण क्षेत्र, अतिशय क्षेत्रों की यात्रा की शताधिक पंच कल्याणक कराये महापूजा विधान भी इनके पावन सानिध्य में सम्पन्न हुए। मुनि, आर्यिका, क्षुल्लक, छुल्लिका, श्रावक-श्राविकाओं को दीक्षा देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की। हरिजनों का जिन मंदिरों में प्रवेश कराने वाला कानून बनना था, उस समय कानून नहीं बना था। उन्होंने लगभग 1105 दिन तक अन्न का त्याग किया जिसके फलस्वरूप वह कानून नहीं बन सका। लाखों-करोड़ों महानुभावों को धर्म के मार्ग पर लगाया और 84 वर्ष की उम्र में उन्होंने यम सल्लेखना द्वारा समाधि मरण को प्राप्त किया। कुन्थलगिरि में 36 उपवास की साधना के साथ भाद्रपद सुदी दोज (2) वि.सं. 2012 (18 सितम्बर 1955) रविवार कोप्रातः काल की प्रत्यूष बेला में अपने पार्थिव शरीर का त्याग कर देव गति को प्राप्त किया।

आचार्य श्री का अन्तिम संदेश–श्री देश भूषण कुलभूषण मुनियों की निर्वाण स्थली दिगम्बर जैन सिद्ध क्षेत्र कुन्थलगिरि (जि० उस्मानावाद) में परम पूज्य योगीन्द्र-चूड़ामणि, धर्म साम्राज्य नायक, श्री 108 चारित्र चक्रवर्ती आचार्य-वर्य श्री शांति सागर महाराज का अपने यम सल्लेखना उपोषण के 26वें दिन दिनांक 8-9-1955 वृहस्पतिवार को सायं 5-10 से 5-32 तक, (22 मिनट) मराठी भाषा में दिया हुआ अन्तिम 'आदेश और उपदेश' की हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है।

"ॐ जिनाय नमः। ॐ सिद्धाय नमः। ॐ अर्हं सिद्धाय नमः। भरत ऐरावत क्षेत्रस्य भूत भविष्यत, वर्तमान तीस-चौबीसों भगवान् नमः। सीमंधरादि बीस बिहरमान तीर्थंकर भगवान् नमो नमः। ऋषभादि महावीर तक चौदह सौ बावन गणधर देवाय नमः। चौसठ ऋद्धिधारी मुनीश्वराय नमः। हर एक तीर्थंकर के समय दस-दस घोरोपसर्ग विजयी मुनीश्वराय नमो नमः।

"ग्यारह अंग चौदह पूर्व युक्त महासागर के समान शास्त्र है। उसका वर्णन कोई शास्त्रज्ञ नहीं करते। कोई केवली नहीं। हम जैसे तुच्छ प्राणी उसकी क्या विवेचना कर सकते हैं। आत्मा का कल्याण करने वाली जिनवाणी सरस्वती श्रुति देवी है। ब्रह्म महासागर के समान है। इसलिए जिन धर्म धारण करने वाले जीव का कल्याण अवश्यम्भावी है। इनमें से एक अक्षर "ॐ" को ही जो ॐ अक्षर धारण करता है, उसी जीव का कल्याण होता है। 'सम्मेद चोटी' पर कलह करने वाले दो कपि उसी के स्मरण से स्वर्ग पहुंच गये। पद्मरुचि श्रेष्ठी के उपदेश से बैल स्वर्ग को गया। सप्त व्यसन धारी अंजन चोर को भी मोक्ष प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त नीच योनी के कुत्ते को भी जीवन्धर कुमार के उपदेश से सद्गति प्राप्त हुई। इतना महत्वपूर्ण होने पर भी लोग जैन धर्म को स्वीकार नहीं करते। जैन होकर भी जिन धर्म पर विश्वास नहीं करते। अनादि काल से जीव और पुद्गल दोनों ही भिन्न हैं। यह समस्त संसार जानता है, लेकिन विश्वास नहीं करता। पुद्गल को जीव और जीव को पुद्गल मानते हैं। दोनों के गुण धर्म भिन्न हैं। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। क्या जीव पुद्गल हैं? या पुद्गल जीव हैं? पुद्गल तो जड़ हैं। स्पर्श, रस वर्ण, गन्ध यह उसके गुण हैं। ज्ञान, दर्शन चेतना यह जीव का लक्षण है। हम तो जीव हैं। पुद्गल का पक्ष लिया तो जीव का नाश होता है। किन्तु मोक्ष को जाने वाला एकमात्र जीव है, पुद्गल नहीं। जीव का कल्याण करना, अनंत सुख को पहुंचाना अपना कर्त्तव्य है। लेकिन मोह मय कर्मों से विश्व भूला हुआ है। दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक्त्व का नाश करता है। चारित्र मोहनीय कर्म चारित्र का नाश करता है। फिर हमें क्या करना चाहिए? दर्शन मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिये सम्यक्त्व धारण करना चाहिये। चारित्र मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिए संयम धारण करना चाहिये। चारित्र मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिए संयम धारण कीजिये। यही मेरा आदेश है। उपदेश है।

अनंत काल से जीव मिथ्याकर्म से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। तब मिथ्याकर्म को नष्ट करना चाहिये। तब सम्यक्त्व क्या है? इसका समग्र वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य जी ने समयसार, प्रवचन सार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड और गोम्मटसारादि ग्रन्थों में वर्णन किया है, लेकिन उस पर किसकी श्रद्धा है? तब अपना आत्म-कल्याण कर

में परिभ्रमण करना है, अनादि काल से परिभ्रमण ही करता आया है। तब संसार में परिभ्रमण ही करना है। उपाय नहीं है। हमें क्या करना चाहिए।

"दर्शन मोहनीय कर्म को नष्ट करना चाहिये। दर्शन मोहनीय कर्म आत्म चिंतन से नष्ट होता है। कर्म की 'निर्जरा' आत्म चिंतन से ही होती है। दान पूजा करने से पुण्य प्राप्त होता है। तीर्थ यात्रा करने से पुण्य प्राप्त होता है। हर एक धर्म का उद्देश्य पुण्य प्राप्त करना है। किन्तु 'केवल ज्ञान' होने के लिये अनंत कर्म की 'निर्जरा' के लिये आत्म-चिंतन ही उपाय है। वह आत्म-चिंतन चौबीस घंटे में से छह घड़ी उत्कृष्ट चार घड़ी मध्यम, दो घड़ी जघन्य, कम से कम दस-पन्द्रह मिनट या हमारे कहने से पांच मिनट आत्म-चिन्तन कीजिये। आत्म-चिन्तन के सिवाय सम्यक्त्व नहीं प्राप्त होता, संसार का बंधन नहीं टूटता, जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु नहीं छूटती। सम्यक्त्व के सिवाय दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय नहीं होता। सम्यक्त्व होकर छासठ सागर तक वह जीव रहेगा। इसलिये चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षय करने के लिए संयम ही धारण करना चाहिये। संयम के सिवाय चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय नहीं होता। इसलिये कैसे भी हो हर एक जीव को संयम धारण करना चाहिये। डरना नहीं है। वस्त्र में संयम नहीं है। वस्त्र में सातवां गुणस्थान नहीं है। सातवें गुणस्थान के अभाव से 'केवलज्ञान' नहीं व 'केवलज्ञान' के अभाव से मोक्ष नहीं। ॐ सिद्धाय नमः।

"सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि ऐसे दो भेद हैं। सविकल्प समाधि वस्त्र से गृहस्थ को होती है। वस्त्र में निर्विकल्प समाधि नहीं हैं। निर्विकल्प समाधि साध्य करने के सिवाय सम्यक्त्व होता नहीं। भाइयों! इसलिये डरना नहीं। मुनि पद धारण कीजिये। निर्विकल्प समाधि होने के बाद वास्तविक सम्यक्त्व होता है। आत्मानुभव के अतिरिक्त सम्यक्त्व नहीं। व्यवहार सम्यक्त्व असली नहीं है। यह साधन है। फल के लिये जैसे फूल होना आवश्यक है, वैसे ही व्यवहार सम्यक्त्व आवश्यक है, ऐसा कुन्द-कुन्द स्वामी जी ने समयसार में बतलाया है। निर्विकल्प समाधि मुनि पद धारण करने के बाद ही होती है। सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक पूरी होती है। तेरहवें गुणस्थान में 'केवलज्ञान' होता है। ऐसा नियम है, शास्त्र में लिखा है।

इसलिए डरना नहीं। घबड़ाना नहीं। क्यों? संयम धारण कीजिये। पुद्गल और जीव भिन्न-भिन्न हैं, यह सर्व श्रुत हैं। सत्य को नहीं समझा। अगर सत्य समझते तो, भाई, बन्धु, माता, पिता आदि की भावना उनमें न रहती। यह सब पुद्गल से सम्बन्धित हैं। जीव का कोई भी साथी नहीं है। जीव अकेला है, बिल्कुल अकेला। उसका कोई नहीं, अकेला ही परिभ्रमण करता रहता है। मोक्ष की प्राप्ति भी अकेले को ही होती है।

देव पूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान में छः क्रियाएं हैं। असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छः क्रियाओं से होने वाले पाप का इन छः क्रियाओं से क्षय होता हैं इन्हीं से इंद्रिय सुख मिलता है। पुण्य प्राप्त होता है। पंच पाप का त्याग करने से पंचेन्द्रिय सुख मिलता है, लेकिन मोक्ष नहीं मिलता। सम्पत्ति, संतति, वैभव, राज्यपद, इन्द्रपद पुण्य से ही मिलता है। किन्तु मोक्ष आत्म-चिन्तन से ही प्राप्त होता है। नय, शास्त्र, अनुभव, इन तीनों को मिलाकर देखिये। मोक्ष किससे प्राप्त होता है? मोक्ष आत्म-चिन्तन से ही प्राप्त होता है। यह भगवान की वाणी है। यही एक सत्य वाणी है। फिर यह कौन-सी वाणी है "आत्म-चिन्तन"? इसके व्यतिरिक्त कुछ करने से पुण्य नहीं प्राप्त होता। मोक्ष प्राप्त करने के लिये 'आत्म-चिन्तन' ही आवश्यक है, यह कार्य करना ही चाहिये।

साराश यह है धर्म का मूल दया है। जिनधर्म का मूल सत्य, अहिंसा हैं। किन्तु "सत्य और अहिंसा" हम सब मुख से कहते हैं, लेकिन पालन नहीं करते। क्या स्वयं पाक और भोजन कहने नाम से ही पेट भर जाता है। क्रिया करने के सिवाय बिना खाना खाये पेट नहीं भरता। क्रिया आवश्यक है, इसके अतिरिक्त सब छोड़ दीजिये। सत्य अहिंसा का पालन कीजिये।

सत्य में सम्यक्त्व होता है और अहिंसा में सब जीवों का रक्षण होता है। इसलिये यह व्यवहार कीजिये। इसी व्यवहार का पालन कीजिये। इसी से ही कल्याण होता है। इति!"

●●●

प०पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज के 1914 से 1955 तक (42) चातुर्मासों की सूची

सन्	ग्राम	किस अवस्था में	जिला या प्रांत
1914	उत्तूर ग्राम	क्षुल्लक दीक्षा	कागल समीप
1914	कागल ग्राम	क्षुल्लक अवस्था में	कोल्हापुर
1915	कोगनोली ग्राम	क्षुल्लक अवस्था में	बेलगांव
1916	कुम्भोज ग्राम	क्षुल्लक अवस्था में	कोल्हापुर
1917	जैन वाड़ी ग्राम	क्षुल्लक अवस्था में	बेलगांव
1917	गिरनार जी क्षेत्र	ऐलक दीक्षा	उत्तर प्रान्त
1918	समडोली ग्राम	ऐलक अवस्था में	सांगली
1919	नसलापुर ग्राम	ऐलक अवस्था में	बेलगांव (रायबाग)
1920	यरनाल ग्राम	मुनि दीक्षा	बेलगांव (अथणी)
1920	कोगनोली ग्राम	मुनि अवस्था में	बेलगांव
1921	नसलापुर ग्राम	मुनि अवस्था में	बेलगांव
1922	ऐनापुर ग्राम	मुनि अवस्था में	बेलगांव (अथणी)
1923	कोन्नूर ग्राम	मुनि अवस्था में	बेलगांव (गोकाक)
1924	समडोली ग्राम	आचार्य पद दिया गया	सांगली
1925	कुम्भोज ग्राम	आचार्य अवस्था में	कोल्हापुर
1926	नांदणी ग्राम	आचार्य अवस्था में	शिरोल
1927	बाहुबली क्षेत्र	आचार्य अवस्था में	कोल्हापुर
1928	कटनी नगर	आचार्य अवस्था में	मध्य प्रदेश
1929	ललितपुर नगर	आचार्य अवस्था में	उत्तर प्रदेश
1930	मथुरा नगर	आचार्य अवस्था में	उत्तर प्रदेश
1931	दिल्ली राजधानी	आचार्य अवस्था में	दिल्ली
1932	जयपुर नगरी	आचार्य अवस्था में	जयपुर (राजस्थान)
1933	व्यावर नगर	आचार्य अवस्था में	अजमेर (राजस्थान)

1934	उदयपुर	आचार्य अवस्था में	उदयपुर (राजस्थान)
1935	गोरल नगर	आचार्य अवस्था में	गुजरात
1936	प्रतापगढ़ नगर	आचार्य अवस्था में	चित्तौड़ गढ़ (राजस्थान)
1937	गजपंथा क्षेत्र	चारित्र चक्रवर्ती पद दिया गया	नासिक
1938	बारामती नगर	चा० च० आचार्य अवस्था में	पुणे
1939	पावागढ़ क्षेत्र	चा० च० आचार्य अवस्था में	बड़ौदा
1940	गोरल ग्राम	चा० च० आचार्य अवस्था में	गुजरात
1941	अकलूज ग्राम	चा० च० आचार्य अवस्था में	सोलापुर
1942	कोरोची ग्राम	चा० च० आचार्य अवस्था में	कोल्हापुर
1943	डिग्रज ग्राम	चा० च० आचार्य अवस्था में	सांगली
1944	कुन्थलगिरि क्षेत्र	चा० च० आचार्य अवस्था में	उस्मानावाद
1945	फलटण नगर	चा० च० आचार्य अवस्था में	सतारा
1946	कवलाणा नगर	चा० च० आचार्य अवस्था में	नासिक
1947	सोलापुर नगर	चा० च० आचार्य अवस्था में	सोलापुर
1948	फलटण नगर	चा० च० आचार्य अवस्था में	सतारा
1949	कवलाणा नगर	चा० च० आचार्य अवस्था में	नासिक
1950	गजपंथा क्षेत्र	चा० च० आचार्य अवस्था में	नासिक
1951	बारामती नगर	चा० च० आचार्य अवस्था में	पुणे
1952	लोणंद नगर	चा० च० आचार्य अवस्था में	सतारा
1953	कुन्थलगिरि क्षेत्र	चा० च० आचार्य अवस्था में	उस्मानावाद
1954	फलटण नगर	चा० च० आचार्य अवस्था में	सतारा
1955	कुन्थलगिरि क्षेत्र	चा० च० आचार्य अवस्था में	उस्मानावाद
1956	कुन्थलगिरि क्षेत्र	समाधिस्थ	उस्मानावाद समाधि

अनुपम योगी

सन् 1951 अक्टूबर में बारामती के उद्यान में पं० सुमेर चन्द्र दिवाकर एवं डॉ० सुशील कुमार दिवाकर जी ने आ० श्री शांति सागर जी महाराज से उनकी जीवन-गाथा जानने की जिज्ञासा प्रकट की तथा बड़ी भक्ति और विनय के साथ प्रार्थना की, तो उत्तर मिला "हम संसार के साधुओं में सबसे छोटे हैं, हमारा लास्ट नम्बर है, उससे तुम क्या लाभ ले सकोगे, हमारे जीवन में कुछ भी महत्व की बात नहीं है।

तब पं० सुमेर चन्द्रजी ने कहा—महाराज जी आपका साधुओं में प्रथम स्थान है या अन्तिम। यह बात तो देखने वाले ही जान सकते हैं। संसार तो जानता है कि आपका प्रथम नम्बर है। महाराज श्री बोले—"लोग हमें क्या जानें, हम अपने आपको जानते हैं कि तीन कम नौ करोड़ (8,99,99,997) मुनियों में हमारा अन्तिम नम्बर है।"

तब पं० सुमेर चन्द्र बोले—अच्छा! आपकी दृष्टि में जो साधुगण हैं, उनमें आपका नम्बर है, प्रथम हो या अन्तिम इससे कुछ अन्तर नहीं पड़ता हाथ में विद्यमान सभी उंगलियों का समान ही महत्व है, तीर्थंकर प्रथम हो या अन्तिम पूज्यता की दृष्टि से तो सब समान है, सब ही पूज्य है। अतः आपका जीवन-चरित्र अन्य महापुरुषों की तरह हम सब संसारी प्राणियों के लिए बोधप्रद एवं कल्याण कारक होगा। ऐसा हमारा विश्वास है। महाराज बोले—बड़े-बड़े ऋद्धिधारी मुनियों, महापुरुषों तीर्थंकरों के जीवन-चरित्र का पता नहीं है, तब हमारे चरित्र से क्या होगा? तुम हमको सब साधुओं में छोटा समझो, इतना बस हमने कह दिया, अधिक नहीं कहना है। कुछ क्षण बाद पुनः बोल उठे—"तुम्हारे लिए हमारा आदेश है कि तुम हमारा जीवन चरित्र मत लिखो।

पं० सुमेर चन्द्र बोले—महाराज! यह तो आपकी बड़ी कड़ी आज्ञा है। मैं अपने गुरु के गौरव से जगत को परिचित कराकर गुरु की सेवा तथा लोकहित करना

चाहता हूं। इस विषय में आप क्यों निषेध करते हैं? आपकी अस्सी वर्ष की अवस्था पूर्ण होने को है। धार्मिक समाज उत्सव मनाकर धर्म प्रभावना करना चाहती है, उसकी (समाज की) इच्छानुसार अभिनन्दन ग्रन्थ भी प्रकाशित करने की भी संयोजना है और वह ग्रन्थ लिखने/सम्पादन करने का गुरुतर भार समाज ने मुझे सौंपा है।

महाराज श्री बोले—हमें अभिनन्दन ग्रन्थ एवं उत्सव वगैरह कुछ भी नहीं चाहिए। अब हमारे जीवन की घड़ी में 12 घण्टे की पूर्णता में कुछ ही समय शेष रह गया है, जीवन का सूर्य अस्ताचल पर पहुंच चुका है। डूबने में थोड़ा-सा समय ही बाकी है, अब हमें चुपचाप आत्म ध्यान करना है, अब हमें बाहर की कोई भी चीज नहीं चाहिए। ये सब बाह्य क्रिया-कलाप मेरी आत्मा की साधना व सिद्धि में बाधक ही है। अतः मेरा आदेश है कि आप मेरे बारे में कुछ भी न लिखो।

पं० जी बोले महाराज जी! क्या आपको अपनी आयु के सम्बन्ध में कुछ आभास हो गया है?

महाराज (आ० श्री) बोले—अस्सी के हो गये हैं, अब और कितने दिन जीवित रहेंगे? इससे हमें अपनी कीर्ति आदि की झंझट नहीं चाहिए। मान-सम्मान भी नहीं चाहिए, तुम हमारी स्तुति प्रशंसा में कोई ग्रन्थ मत लिखना।

धन्य है, ऐसे लोकोत्तर व्यक्तित्व के धनी परम निस्पृह संत को जो सदैव जीवन पर्यंत निस्पृहता के साथ आत्माभिमुखी होकर साधना करते रहे, ऐसे महामनीषी, परम निस्पृही सन्त को मेरे अंतस के श्रद्धा व भक्ति युक्त कोटिशः प्रणाम निवेदित है।

●●●

अज्जउ परमप्पउ गय संकप्पउ, चिम्मितु जि सासउ अभउ।
तं णिरू झाउज्ज्इ संसउ, हिज्जइ पाविज्जइ जिहिं अचल पउ ॥रइधु कवि

अर्थ—आर्जव धर्म परमात्म स्वरूप है, संकल्प रहित है, चैतन्य स्वरूप है, आत्मा का मित्र है, शाश्वत है, और अभय रूप है। जो मानव इस आर्जव धर्म का ध्यान करता है वह अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

"गर्भ से ही प्रभावक"

पर्वराज पर्यूषण में प्रायः सर्वत्र ही धर्म की अच्छी प्रभावना होती है। सभी जैन भाई मंदिरों में विशेष पूजा-विधान, अभिषेक, पाठ स्तुति व वंदना करते हैं, खान-पान में भी शुद्धि भले ही वर्ष के अन्य दिनों में न रखें किन्तु पर्यूषण पर्व में तो प्रायः सभी प्रासुक, मर्यादित एवं शुद्ध भोजन करते हैं, जो व्यक्ति कुसंगति में फंस किन्हीं धूम्रपानादि बुरी आदतों के शिकार बने हैं, वे भी उस समय उन अभक्ष्य पदार्थों का त्याग कर देते हैं। इस वर्ष के पर्यूषण पर्व इस दम्पत्ति के लिए न जाने क्यों विशेष ही आनन्द के कारण हेतु व सेतु रूप रहे।

पूर्यषण पर्व के पश्चात् ही इस घर में प्रसन्नता के वातावरण में धर्म का अन्तर्नाद भी उद्घोषित रहता था। तभी मानो रात्रि के प्रथम प्रहर में ऐसा प्रतिभास हुआ कि कोई तारा आकाश से टूटकर इस दम्पत्ति की गोद में आ गिरा है।

और वह तेज पुंज उन दम्पत्ति के लिए आनन्द का कारण तो था ही साथ ही साथ धार्मिक भावनाओं की विशुद्धि को भी उत्कृष्ट सीमा तक पहुंचा दिया। वैसे तो घर में नित्य शुद्ध भोजन बनता था, प्रायः दिगम्बर साधु-सन्तों व अन्य त्यागी व्रती की भी आहार चर्या यहां होती थी। जिनेन्द्र भगवान् की पंचामृत अभिषेक पूर्वक पूजा करना एवं भक्तामर स्तोत्र आदि स्तोत्र व विनती व भावनाओं का पाठ इस दम्पत्ति की दैनिक चर्या में ही शामिल था। णमोकार मंत्र की माला लगाये बिना तो शायद ही कभी पानी पिया हो। फिर भी मातु के परिणाम गर्भस्थ शिशु के गर्भ में आने से विशुद्धि की ओर उत्तरोत्तर वृद्धिंगत होने लगे। उनको दोहला हुआ कि मैं अतिशय क्षेत्र, तीर्थंकरादि महापुरुष के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान व निर्वाण क्षेत्रों की वंदना करूं तथा जिनेन्द्र भगवान का अभिषेक उत्तम पात्रों से महामहिम पूजा के साथ करूं एवं एक सौ आठ दल के कमल पुष्प द्वारा भगवान की पूजा करूं। इसकी पूर्ति हेतु कोल्हापुर के समीपस्थ तालाब से वह पुष्प अधिक व्यय करके मंगाया गया और श्रीमती सत्यवती (सरस्वती देवी) ने अपने स्वामी भीमगोडा के साथ जिनेन्द्र भगवान की पंचामृताभिषेक पूर्वक पूजा व अर्चना की।

तत्पश्चात् वह गर्भस्थ बालक का जन्म आषाढ़ वदी 6 (छठवीं) को हुआ। उसका राशि का नाम रखा गया दामोदर एवं घर का नाम शांत स्वभाव होने से सातगोडा प्रसिद्ध हुआ।

ये सातगोडा ही जैनों के श्रेष्ठतम चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर बने। जिन्होंने पूरे भारत वर्ष में दिगम्बर जैन धर्म की धूम मचा दी थी और वह जन्म स्थान था कर्नाटक के बेलगांव जिले का ग्राम-कुंभोज/या मातुल गृह येलगुड।

●●●

तं तउ जहिं परिगहु छंडिज्जइ, तं तउ जहिं मयणु जि खंडिज्जइ।

तं तउ जहिं णग्ग-त्तणु दीसइ, तं तउ जहिं गिर कंदरि णिवसई।।

अर्थ–जो परिग्रह त्यागी है, मनोविकार को जीतने वाला है, नग्न स्वरूपधारी है, गिरि कन्दराओं में निवास करने वाला है, वही उत्तम तप का धारी होता है।

❊ ❊ ❊

चाए अवगुण गणु जि उहट्टइ, चाए णिम्मल कित्ति पवट्टइ।

चाए वयरि च पणमइ पाए, चाए भोग भूमि सुह जाए।।

अर्थ–त्याग से अवगुणों का समुदाय दूर हो जाता है, त्याग से निर्मल कीर्ति फैलती है, त्याग से बैरी पैरों में नमस्कार करता है, और त्याग से भोग भूमि के सुख मिलते हैं।

❊ ❊ ❊

पूय फलेण तिलोए, सुर पुज्जो हवइ सुद्ध मणो।

दाण फलेण तिलोए, सार सुहं भुंज णियदं।। आ. कुन्द-कुन्द

अर्थ–शुद्ध मन से जिनेन्द्र भगवान की पूजा करने के फल से प्राणी देवताओं के द्वारा पूज्यता को प्राप्त होते हैं, तथा दान के फल से प्राणी नियम से तीन लोक में सार भूत सुख के भोक्ता होते हैं।

"सस्कारों का प्रभाव/ऐसा भी एक परिवार"

सन् 1952 के सितम्बर की अष्टमी के दिन पं० सुमेर चंद्र जी दिवाकर आदि कुछ महानुभावों को भोज ग्राम में जाने का एवं वहां भोजन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। अष्टमी और चतुर्दशी जैन दर्शन में आष्टाह्निक व पयूर्षण पर्व की तरह से शाश्वत पर्व हैं। सुविवेकी श्रावक पर्वों के दिनों में विशेष धर्म ध्यान, संयम साधना, अनशनादि तप, स्वाध्यायादि सत्कर्म में विशेष रूप से प्रवृत्त होते हैं। उसी श्रावक का श्रावकपना सार्थक एवं सफली भूत है, जो श्रावक बिना देव दर्शन व जिनाराधना के कोई लौकिक/सांसारिक काम प्रारंभ नहीं करते और न ही सत्पात्रों को दान व गुरु भक्ति किये बिना स्वयं भोजन ग्रहण करते हैं। यह परिवार उत्तमोत्तम श्रावकोचित धार्मिक संस्कारों से परिपूर्ण था और सम्यग्ज्ञान की चर्चा व धार्मिक विचारों के आदान-प्रदान में व सत्पात्रों को दान देने में सदैव संलग्न रहता था। इस घर में प्रवेश करते ही उन सज्जनों (पं० सुमेरू चन्द्र जी दिवाकर आदि महानुभावों) को ऐसा सुखद अनुभव हुआ, मानो कि हम किसी तीर्थ क्षेत्र पर ही आ गये हों। उस दिन अष्टमी तिथि होने से भोजन, घी, शक्कर, दूध, दही, तेल, व लवण से रहित था, तथा साथ ही हरित वनस्पति से भी रहित था। वे महानुभाव जहां भोजन करने बैठे थे, वहीं उनके साथ उस परिवार का छोटा पोता (जिसकी उम्र लगभग 6-7 वर्ष की होगी) अपनी बड़ी बहिन सुशीला (जिसकी उम्र लगभग 8-9 वर्ष की होगी) के साथ भोजन करने बैठा था, इस बालक का नाम था भीमगोडा। बालक भीम की थाली में भी बिना नमक का भोजन आया तो उसने अपनी मां से कहा मां जी! मीटू बेकू! अर्थात् मुझे नमक चाहिए। तभी पास में बैठी भोजनरत बड़ी बहन सुशीला बोल उठी—"भैया जब तुम स्वामी बनोगे तब तो तुमको बिना नमक का आहार लेना होगा, उस समय नमक कैसे मांगोगे! अर्थात् जब तुम मुनि बनोगे तब कैसे नमक मांगोगे तब तो नीरस भोजन जैसा श्रावक देगा वैसा ही करना पड़ेगा।"

इन छोटे भाई-बहन की स्वाभाविक बातचीत चर्चा सुनकर वे पं० सुमेरचन्द्र दिवाकर आदि महानुभाव भी आश्चर्यान्वित हुए और उन्होंने निश्चित किया कि यह गृह परिवार निश्चित ही संत का परिवार होना चाहिए।

परिवार के मुख्य व्यक्तियों की पवित्रता, निर्मल चिंतन धारा, समीचीन क्रिया कलापों एवं धर्म संस्कारों का प्रभाव अबोध बालकों पर भी पड़ता है। जैसी उपजाऊ भूमि होती है वैसी उत्तम फसल होती है, अथवा जैसे बीज होते हैं, वैसे ही फल उत्पन्न होते हैं। माता-पिता या दादा-दादी के संस्कारों का बालकों पर बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ता है।

उनकी विचारधारा भी कालान्तर में बच्चों की चिंतनधारा बन जाती है।

पहले ऐसा कहा जाता था कि यह बालक अपने पिता जी के ऊपर या माता जी के ऊपर या दादा-दादी ऊपर या बुआ के ऊपर गया है, इसका चेहरा बोली-वाणी या चिंतनधारा घर के अमुक व्यक्ति की तरह है किंतु आज टी०वी० ने सब भुला दिया और निकृष्ट संस्कार मानव जीवन पर थोप दिये अब माताएं भी कहने लगीं है कि मेरा बेटा अमुक नेता या अभिनेता पर गया है, मेरी बेटी अमुक अभिनेत्री पर गई है। यह भ्रष्ट संस्कारों का ही दुष्प्रभाव है। उस परिवार के बारे में आप सोच रहे होंगे कि वह परिवार किस संत महात्मा की पूर्वावस्था का परिवार था। तो सुनिए—वह था चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांति सागर जी व आध्यात्मिक संत मुनि पुंगव वर्धमान सागर जी की गृहस्थावस्था का परिवार। वह बालक भीम व बालिका सुशीला भी इन्हीं के अनुज के सुपुत्र के सुपुत्र व सुपुत्री हैं। धन्य है ऐसे परिवार को जहां पर्वों के दिनों में आज भी शुद्ध प्रासुक, मर्यादित भोजन बनता है और धन्य है उन आत्माओं को जिन्होंने न केवल कुंभोज (भोजग्राम) अपितु अपनी पद रज से समूचे भारत को या मानव जाति को ही पवित्र धन्य कृतार्थ कर दिया।

●●●

"माता पिता के पुनीत संस्कार"

मोहनदास कर्मचन्द्र गांधी बापू (महात्मागांधी) के जीवन में गुजरात प्रांत में विद्यमान जैन पुरुषों की जीवन शैली का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा था। सच्चे जैन पुरुषों के रग-रग में रोम-रोम में अहिंसा-करूणा व दया के संस्कार विद्यमान रहते। गांधी जी पर उन जैन बंधुओं की संगति में उनके माता-पिता के पुनीत संस्कारों का भी गहरा प्रभाव पड़ा था "वे अपनी आत्म कथा में स्वयं लिखते हैं कि–"मेरे पिता जी सत्य प्रिय और उदार थे, धन संचय करने का लोभ पिता जी को कभी नहीं हुआ था माता जी बड़ी साध्वी स्त्री थीं। इस बात की याद मेरे हृदय में गहरी छाप की तरह अंकित है। जब से मैंने होश संभाला तब से उन्होंने कभी चातुर्मास व्रत को भंग किया हो ऐसा मुझे स्मरण नहीं है। अर्थात् वे सदा ही चातुर्मास में व्रत करती थीं। वे कड़े-कड़े व्रत को ग्रहण कर लेती और अपनी आत्म शक्ति और मनोबल से (शारीरिक शक्ति कम होने पर भी) उसे अच्छी तरह से निबाह लेती थी। जो व्रत वे एक बार लेती (प्रारंभ कर देती) तो पुनः अस्वस्थ होने पर भी वे अपने व्रत को नहीं छोड़ती। उन्होंने व्रत नियम संयम का सदैव निष्ठा से व कठोरता के साथ ही पालन किया था।

मेरे पिता जी के पास एक जैन धर्माचार्य कभी-कभी आते थे, अथवा मेरे पिता जी भी उनकी संगति करने जाते थे। पिता जी उन्हें सम्मान के साथ रखते थे वे सांसारिक व धार्मिक विषयों पर चर्चा भी करते थे, उस समय मैं भी उनकी सेवा में लगा रहता था। इस वातावरण में रहते जो प्रभाव मेरे ऊपर पड़ा उसका फल यह हुआ कि सब धर्मों के प्रति मेरे हृदय में सम्मान व श्रद्धा का भाव जम गया। इसी प्रकार छत्रपति शिवाजी पर उनकी मां जीजा बाई का प्रभाव पड़ा था, तथा डॉ० राजेन्द्र प्रसाद पर उनकी मां का प्रभाव था इस बात को वे स्वयं लिखते हैं–"कि मां के द्वारा रात्रि में जल्दी जग जाने पर रजाई में सोते-सोते ही प्रभाती-प्रार्थना आदि सुनता था। इसी प्रकार आ० कुन्द-कुन्द स्वामी पर उनकी मां मंदालसा के संस्कार पड़े, आ० भद्रबाहु स्वामी पर उनकी मां श्रीदेवी के, शिवकोटि आचार्य पर

उनकी मां प्रभाकरी व पिता बज्रबाहु के संस्कार थे, आ० उमा स्वामी जी पर श्रीमती उमा जी व पिता स्वाति कुमार के। पूज्यपाद (देवनंदि) आचार्य जी पर उनकी मां श्रीमती श्रीदेवी के सुसंस्कार ही पल्लवित व पुष्ट हुए थे।

देवगोडा व सातगोडा पर भी उनकी माता श्रीमती सत्यवती (सत्यभामा) एवं श्री भीमगोडा के संस्कार वृद्धिंगत हुए। श्रीमती सत्यवती जी प्रत्येक अष्टमी चतुर्दशी का उपवास करतीं थी। शेष दिनों, शुद्ध प्रासुक व मर्यादित भोजन करती उनके यहां सदैव शुद्ध आहार बनने से साधुओं का आहार भी प्रायः वहीं होता था। वे सत्य प्रिय, सत्यवादी, करुणाशील, उदारमना, दानशीला सुदृढ़ निष्ठावान, आत्म संयमी परिश्रमी व वात्सल्यादि गुणों से परिपूर्ण नारी रत्न थीं। वे अपने पुत्र-पुत्रियों से कहा करती थीं कभी झूठ मत बोलो, चोरी मत करो, हिंसा मत करो, बुरे विचार मन में मत लाओ, जो कुछ अपने पास है उसी में संतोष धारण करो, दूसरे की वस्तु को अपना बनाने का विचार भी मन में मत लाओ।

कभी क्रोध मत करो, घमण्ड मत करो, सरल-सहज बनो, किसी के साथ छल-कपट मत करो, कभी लोभी मत बनो, अपनी आत्मा का कल्याण इस मनुष्य पर्याय में ही सम्भव है। अतः सदैव भगवान पर व धर्म पर श्रद्धा रखो, कभी किसी का बुरा मत करो, बुरा मत सोचो, जितना हो सके दूसरों का उपकार करो, उनके द्वारा दिये संस्कारों से हमारे मन में बचपन से मुनि बनने की लालसा जाग गई थी। श्रीमती सत्यवती व श्री भीमगोडाजी घर में रहते हुए भी साधु पुरुष थे, उन्हीं सुसंस्कारों का प्रभाव रहा कि उनके दो पुत्र महाव्रती बने और उन्होंने जैन धर्म की अभूतपूर्व धर्म प्रभावना की।

वे दोनों पुत्र थे परम पू० श्रमण शिरोमणि चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज और इन्हीं के द्वितीय भाई थे मुनि श्री वर्धमान सागर जी महाराज। शेष तीन संतान भी घर में रहते हुए भी वैरागी व त्यागी बन कर रहीं। धन्य है ऐसे माता-पिता को व उनके सुयोग्य सुपुत्रों को जिन्होंने जैनधर्म की ध्वजा को बहुत ऊंचाइयों तक उठाया। ऐसे संत न केवल जैनों के अपितु प्राणी मात्र के पूज्य थे, हैं, व रहेंगे तथा वे माता-पिता भी जनता-जर्नादन द्वारा प्रशंसनीय-अभिवंदनीय, सम्माननीय थे, हैं, व रहेंगे। काश! ऐसे माता-पिता हर किसी के हों। तथा ऐसे पुत्र भी प्रत्येक दम्पतिको प्राप्त हो जायें तो पूरे विश्व में ही अनुपम शांति स्थापित हो सकती है।

●●●

सच्चरित्रवान के चित्र का प्रभाव

जब उन यथाजात दिगम्बर वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरुदेव का संसार, शरीर, भोगों से विरक्त, संसार के समस्त पर पदार्थों से उदासीन, ज्ञान, ध्यान, तप में संलग्न परम वीतरागी दशा युक्त चित्र प्रकाश में आया तब सभी मानव अपने धर्म, सम्प्रदाय, मत या दर्शन का मोह भुलाकर या त्यागकर उन श्रमणराज के चित्र को भी बड़ी श्रद्धा व भक्ति पूर्वक प्रणाम करते थे। उनकी वीतरागी मुद्रा को अपलक अन्तमुहूर्त प्रमाण तक निहारने से उनकी चेतना में परम आनन्द की अनुभूति होती थी। उनके रोम-रोम से वीतरागता का निर्झर झरता-सा प्रतीत होता था, वे सर्व परिग्रह विमुक्त पूर्णतया स्वावलम्बी, निस्पृह व आनन्द के अक्षुण्ण कोष प्रतिभासित होते थे। पर पदार्थों या परिग्रह के प्रति पागल जन समुदाय को उनकी मौन मुद्रा ही संसार की असारता व स्वार्थपरता का मानो उपदेश देती हुई-सी प्रतीत होती थी। वे अपनी चर्या से ही अधिकांशतः संसारी प्राणियों को आत्मकल्याण का सच्चा सुपथ बताते थे। वे संत अपना जीवनधर्म के निर्मल जल से या साम्यभाव के निर्झर से अपने अंतःकरण को परिशुद्ध रखते थे। उन श्रमणराज के चित्र को देखकर सज्जनों को यह आभास होता था कि भौतिक वैभव, एवं भोग-विलासों के पीछे दौड़ना अपनी आत्मा के विनाश की सामग्री ही संग्रह करना है। उनके चित्र को देखते ही हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन, कबीर पंथी आदि साक्षर व प्रज्ञ महानुभाव यही कह उठे थे कि–"धन्य है ऐसी आत्मा को" एक सहृदय मुस्लिम जागीरदार उस चित्र को देखते ही कह उठे–

सरापा पाक है इनका, धोये हैं हाथ दुनियों से।
इन्हें नहीं हाजत जो पानी बहायें सिर से पांव तक॥

तभी दूसरे मुस्लिम भाई जो शायर थे उनको उर्दू भाषा की शायरी इस प्रकार सुनाने लगे–

तन की उरयान से बेहतर नहीं है कोई लिबास।
यह वह जामा है जिसका नहीं उल्टा, सदा सीधा॥

अर्थात तन की नग्नता/दिगम्बर से बढ़कर संसार में अन्य कोई पोशाक नहीं है, यह वह पोशाक है जो कभी उल्टी या सीधी नहीं होती सदा सीधी ही रहती है।

एक हिन्दु ने कहा बालक में भगवान होते हैं। इसका अर्थ यह है कि जो बालकवत् निर्मल चित्त वाला है, विकार रहित है, सरल व सहज है, तथा यथा जात दिगम्बर अवस्था को प्राप्त है, वास्तवमें वही भगवान है, बाल्यावस्था तो अबोध की अवस्था है किंतु इस साधु में तो विवेक भी है फिर भी बालक वत् निर्विकारता व सरलता, सहजता है। तभी दूसरे सज्जन चित्र में उनकी निष्पृहता को देखकर कहने लगे यह वास्तव में धरती के देवता हैं सम्राटों के भी सम्राट हैं, सच्चे जीवंत भगवान हैं क्योंकि कहा भी है–

चाह गई चिंता मिटी, मनुवा बे परवाह।
जिनको कुछ न चाहिए वे शाहन के शाह ॥

अर्थात् जिनको संसार की चाह नहीं लौकिक सुख की कामना नहीं पर वस्तु की चिंता नहीं, वही सच्चा फकीर है, बेफिक्र/निश्चिंत है। क्योंकि जिसे कुछ नहीं चाहिए वही समस्त राजाओं का राजा/भगवान है। तभी एक सज्जन बोल उठे श्रेष्ट और उच्चादर्श युक्त जीवन तो इन संत महात्मा का ही है, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया तथा सर्वारम्भ व परिग्रह त्यागकर निज आत्मा का ध्यान करते हैं। महानुभाव आप सोच रहे होंगे कि यह किस महात्मा के चित्र की बात कही जा रही है। तो सुनिए वह चित्र था दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रांत के कुंभोज (येलगुड) में जन्में परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज का। उन जैसे उच्चादर्श को प्राप्त करने हेतु उन्हें कोटिशः सविनय प्रणाम।

●●●

इसे विश्व का प्रथम आश्चर्य ही कहो

वर्तमान युग कम्प्यूटर एवं रोबोट का युग है, व्यक्ति इस वैज्ञानिक युग में भौतिकता में ही सुख शांति की झलक खोजना चाहता है। आज भारतीय संस्कृति पर पाश्चात्य देशों की विकृति हावी हो रही है। भारतीय संस्कृति में आमूल-चूल परिवर्तन आ रहा है। वेप-भूषा, खान-पान, आचार-विचार, आहार-विहार, रहन-सहन का तरीका, भाषा-वाणी, आदर-सत्कार विनय-सम्मान की क्रिया, यहां तक कि पूजा पद्धति, नैतिक कर्त्तव्य एवं धार्मिक संस्कारों में भी सीमातीत ह्रास हो रहा है। आध्यात्मिकता जो भारतीय महानुभावों की चेतना की चेतना कही जाती थी वह आज जीर्ण वस्त्र की तरह हेय बनती जा रही है, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह जैसे महत्व पूर्ण व्रतों का पालन करना एक कल्पना या चिंतन का विषय बन कर रह गया है। पाप कार्यों में बेलगाम स्वछंद प्रवृत्ति, कषायों का उत्कृष्ट उदय, इन्द्रिय विषयों का सर्वोत्कृष्ट विकास एवं विपुल उपलब्धि असंयमी, पापिष्ठ, दुष्ट एवं दुर्जनता की प्रचुरता व्यक्ति को बरबस ही पतन की ओर उन्मुख कर रही है। ऐसे काल में दिगम्बर अवस्था में निर्विकार रहकर, कठोरतम साधना करना एक आश्चर्य नहीं तो क्या है? आ० सोमदेव स्वामी ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व एक कारिका लिखी थी।

वह इस प्रकार है–

कलौ काले चले चित्ते देह चान्नादि कीटके।
एतच्चित् चमत्कार, जिन रूपधरा नरा ॥ य०ति०च०

अर्थात् वर्तमान कलि काल में मनुष्यों का चित्त चलायमान है, शरीर अन्न का कीड़ा बना हुआ है, फिर भी कुछ सातिशय पुण्यात्मा महानुभाव जिनरूप धारण कर इस वसुधापर विचरण कर रहे हैं। निर्विकार रहकर चतुर्थकाल जैसी साधना कर

रहे हैं, यह महान आश्चर्य की बात है, अथवा जिनेन्द्र रूप का धारण करना या उसके दर्शन कर लेना भी सातिशय पुण्य का कारण होने से विश्व का प्रथम आश्चर्य व चमत्कार है। कुछ वर्षों पूर्व एक समाचार प्रकाश में आया था कि अपने आध्यात्मिक पवित्र जीवन से भव्यात्माओं के अन्तःकरण में अपरिमित आनंद की वर्षा करने वाली विलक्षण आत्मा दक्षिण प्रांत में दिगम्बर जैन मुनि के रूप में विराजमान है। उनकी तपस्या सबको चकित करती है। वे मुनिराज किसी जंगल की गुफा में आत्म ध्यान कर रहे थे कि एक नागराज ने उन पर उपसर्ग किया। वह उनके शरीर से ऐसे लिपट गया था मानो वह सचमुच में संतापहारी, शांतिदायी, सुवास सम्पन्न चन्दन का वृक्ष ही हो, वे मुनिराज सद्गुणों से अलंकृत, शांति के सागर थे इसलिए उनकी आत्मा सर्पराज के लिपट जाने पर भी अचल रही और शरीर भी मूर्तिवत् अडिग/स्थिर रहा। दो-तीन घंटे बाद वह विषधर चला गया। यह घटना/दृश्य काल्पनिक या पौराणिक नहीं है, इसे अनेक गृहस्थों ने अपने चर्म चक्षुओं से देखा था। मृत्यु अत्यंत समीप थी। विश्वस्त प्रतिनिधि सर्पराज द्वारा ली गई अग्नि परीक्षा में वे संत महात्मा पूर्णतया खरे उतरे, वे उत्तीर्ण ही नहीं हुए अपितु विशेष योग्यता के साथ आदर्शोत्तम उत्तीर्णता प्राप्त की। जिससे उन संत महात्मा की ख्याति न केवल समूचे भारत वर्ष में अपितु साधर्मी समुदाय ने अवर्णनीय आनन्द, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति तथा ममता पूर्वक सुनी। सुनकर वे सभी आश्चर्यान्वित भी हुए। प्रत्येक सुहृदय इस भीषण पंचमकाल/कलिकाल में चतुर्थ कालीन सम दृश्य को नयन गोचर बनाने वाले उन परम तपोनिधि, आध्यात्मिक संत की मनोमन्दिर में पूजा करने लगे। धन्य है उन आध्यात्मिक शिरोमणि संत महात्मा को जिनका नाम अंतस की समग्र श्रद्धा भक्ति के साथ लिया जाता है। उन चारित्र चक्रवर्ती शांतिसागर नाम धारक आत्मा को अपनी आत्मा में निज का आदर्श बनाने हेतु स्मरण करता हूं।

●●●

प्रकृति एवं प्रवृत्ति

वे सदा शान्त भाव से अलंकृत रहते थे, एकांत प्रिय थे, तत्त्वचिंतन में संलग्न रहना उनकी आदतों में सम्मिलित था, व्यर्थ की बात करते हुए उन्हें कभी नहीं देखा। वे शास्त्रों की धर्म चर्चा करने हेतु ही लोगों के पास बैठते थे। वे विकथा कभी नहीं करते थे। इनके वचनों पर सभी को अपार विश्वास था। सभी जैन-जैनेतर महानुभाव उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। उनकी वाणी में विशेष आकर्षण तथा मार्मिकता पाई जाती थी। वे ऐसी न्याय पूर्ण व तार्किक बात करते थे कि उसे सभी लोग निष्ठा के साथ स्वीकार करते थे, सब लोग उन पर असीम स्नेह करते थे, वे अजात शत्रु थे, वे अत्यंत सादे ढंग से रहते थे। खादी की धोती वाराबंदी फेंटा उनके प्रमुख वस्त्र थे। वे अनुपम अश्व, वृषभ आदि के परीक्षक थे। वे घोड़े व बैल आदि के शरीरस्थ चिन्हों को देखकर ही उसके गुण दोषों को जान लेते थे। प्रत्येक बैद्दिक कार्य में उनका प्रथम स्थान था। कृषि आदि कार्यों में तो वे सभी के आदर्श व अग्रणी थे। उनका अनुभव दूसरों का मार्गदर्शक था। तम्बाखू, धान्य ईक्षु, द्राक्षा लवंग आदि की खेती में करने में विशेषज्ञ थे। वे सभी लौकिक कार्य-कलाओं, क्रिया-कलापों व चित्र-शिल्पादि विद्याओं में उस समग्र क्षेत्र में अद्वितीय थे। उनकी प्रत्येक चेष्टा से यही अनुभव होता था कि वे लोकोत्तर महापुरुष हैं। जब उनने दीक्षा ली थी तब सभी जैन-अजैन यही कहते थे कि—हे घरांते साधु प्रमाणे च होते, आज प्रत्यक्ष साधु असा प्रत्येकाला भाव झाला।" अर्थात् ये घर में ही साधु सदृश थे आज ये साक्षात् साधु बन गये, ऐसा भाव प्रत्येक व्यक्ति के मन में पैदा हुआ। उनके दीक्षा लेने पर प्रायः सभी लोगों के नेत्रों में आंसू आ गये थे। सभी यह सोचने लगे कि हमारे गांव से रत्न चला गया, उस रत्न के बिना हम गरीब, कंगाल, दीन-हीन दरिद्रवत् हो गये।

वास्तव में वे एक अनुपम चैतन्य रत्न थे जिसकी प्रभा ने पूरे भारत वर्ष में

विद्यमान मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम के अधंकार को दूर किया था। वे सभी के अकारण बन्धु तथा परहितकारी थे। वे सभी को धर्म व न्यायनीति के मार्ग पर चलने की ही प्रेरणा देते थे। वे इस भोज के ही नहीं अपितु इस समूचे क्षेत्र के पिता तुल्य थे। उनके साधु बनते ही हम सभी पिता विहीन की तरह हो गये, हमारे ऊपर की छत्र छाया मानो हमेशा के लिए हमसे दूर हो गयी।

उनके पुण्य रूप गुणों की चर्चा आज भी प्रत्येक घर में होती है। आवाल वृद्धों के सम्मानीय व हमारे हृदय में बसे हुए थे। आज उनको दीक्षा लिए कई दशक बीत गये फिर भी उनकी स्मृति हमारे मानस पटल पर ज्यों की त्यों अंकित है। स्मृति को ज्यों ही विस्तृत करते है वह नवीन रूप धारण कर सामने खड़ी हो जाती है, उनको भुला पाना कोई सरल काम नहीं है। वे (उनकी स्मृति) हमारे दिल-दिमागों में ही नहीं अपितु दूध में शक्कर की तरह रग-रग में व्याप्त हैं, ऐसा कहते-कहते उनकी आंखों से झर-झर आंसू झरने लगे। उनकी उम्र लगभग 80-85 वर्ष की होगी, उन सभी ने इस बात को कहकर प्रसन्नता व्यक्त की। कि हम सभी पुण्य शाली है कि हमें भी उनकी जन्म स्थली/ निवास भूमि में जन्म लेने का पुण्य अवसर प्राप्त हुआ। उन जैसी विश्व विभूति की निवास भूमि में जन्म होना कोई कम पुण्य की बात नहीं है।

यह जानकारी पं० सुमेर चन्द्र दिवाकर जी ने "चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांति सागर जी महाराज (दक्षिण) के बारे में कुंभोज के वृद्ध महानुभावों से प्राप्त की। भाऊ साहब देवगोडा पाटील ने भी यही बताया कि वे मेरे चचेरे भाई थे धार्मिक संस्कार व धर्म रुचि से सम्पन्न थे। उनकी मृदुता, ऋजुता, भद्रता, सत्य प्रियता, सरलता, बुद्धिमता, श्रम शीलता, विनम्रता, त्याग शीलता, संतोषी वृत्ति, एकांतप्रियता आदि सभी गुण एक संत की तरह थे। जो कि आत्म कल्याणार्थी के आदर्श रूप में थे। ऐसे महान परोपकारी संत के चरणों में मैं श्रद्धा से नत-मस्तक होता हुआ उनके उन समस्त गुणों की प्राप्ति की कामना व भावना करता हूं।

●●●

"व्यवहारिक जीवन में भी अनुपम धैर्य व मधुरता"

वे सरलता की साक्षात्, प्रतिमूर्ति थे, हमारे घर के सन्निकट उनकी दुकान थी वह दुकान मुझे आज भी मंदिर की तरह पूज्य दिखाई देती है, जहां वे पुण्य पुरुष विराजते थे। वे घर में ही एक योगी सदृश थे। उनके जीवन में यदि कोई अभाव था तो यही कि उनमें मुझे कभी कोई दोष दृष्टि गोचर नहीं हुआ। जैसे शक्कर में कड़वापन असंभव है। उसी प्रकार उनमें कषायोद्वेग नहीं था। जैसे चन्दन की लकड़ी स्वभाव से ही सुगंधित होती है वैसे ही वे भी स्वभाव से ही सुगंधित-सुरभित/परोपकारी, मधुर भाषी धर्मात्मा एवं न्यायप्रिय सत्यार्थी पुरुष थे। जैसे चन्द्रमा की चांदनी शीतल होती है वैसी इनकी संगति शीतल व संतप्तहारिणी थी। वे जल की तरह निर्मल चित्त वाले थे। उनके चेहरे पर एक अप्रतिम तेज था, उनके नेत्र भी बड़े-बड़े आकर्षक एवं प्रज्वलित चिरागों की तरह थे। उनका जीवन मधुरतम था। उनके पास बैठने में, उनकी चर्चा करने में, उनकी वाणी सुनने में हमें बहुत अच्छा लगता था। वे कभी बच्चों को चिढ़ाते नहीं थे, वे कभी हंसी-मजाक में भी झूठ नहीं बोलते थे। उनकी वाणी का प्रभाव तिर्यंचों पर भी पड़ जाता था। वे पशु-पक्षियों से भी बहुत स्नेह-प्यार करते थे। उनके द्वारा किया गया सदृष्टांत व कथा संदर्भ सहित किया गया प्रवचन, हृदय के पट खोलने में समर्थ था। उनके मुख से कभी किसी की निंदा नहीं सुनी। उनका ब्रह्मचर्य व्रत, अत्यंत निर्दोष था वे कभी स्त्रियों से चर्चा नहीं करते। बस कभी-कभार किसी ने कुछ पूछा तो संक्षिप्त उत्तर देकर मौन हो जाते थे, प्रायः वे स्त्री वर्ग को उत्तर देते समय दृष्टि नीचे या शास्त्र पर ही रखते थे। वे अपूर्व प्रतिभा के धनी थे। कैसा भी कठिन प्रश्न उपस्थित किये जाने पर भी वे अपनी अद्भुत प्रतिभा के द्वारा उसका समाधान करते थे। हमने उनको कभी शोकाकुल, संक्लेशित, क्रोधित, घमण्ड में चूर, भयभीत, मायाचार में प्रवृत्त, लोभ करते हुए नहीं देखा और न ही कंजूसी प्रवृत्ति देखी। वे प्रायः धर्म ध्यान में ही लीन रहे। हमने उन्हें अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में भी समान

भाव से संयुक्त ही देखा। माता पिता की समाधि के समय भी हमने उनमें साधारण लोगों की तरह शोकाकुलता नहीं देखी।

उस समय उनके भावों में वैराग्य की विशेष वृद्धि दिखायी पड़ती थी। माता-पिता के समाधिमरण से उन्हें परम संतोष हुआ था। उनका धैर्य असाधारण था। वे दया शांति वैराग्य न्यायनीति व सत्य जीवन के सिंधु थे।

उनकी आत्मा बालक के समान पवित्र थी। इससे उनका न केवल बच्चों के प्रति अपितु सभी सज्जनों के प्रति हार्दिक स्नेह या प्रेम-वात्सल्य का भाव विद्यमान रहता था। उनमें किसी प्रकार दुर्व्यसन नशा धूम्रपान आदि की कोई बुरी आदत नहीं थी। यहां तक उन्हें पान-सुपाड़ी, चाय तक पीने का भी शौक नहीं था। उनके स्वभाव में स्थिरता, गंभीरता, सरलता व सहजता विद्यमान थी। वे चंचल या क्षुद्र प्रकृति के नहीं थे। उनका साहस व धैर्य असाधारण था। वे जिस बात की परीक्षा करते वह सदा ठीक ही निकलती थी। तमाखू की फसल आने पर उनकी पैडी बांधने में सभी उनकी कुशलता की सराहना करते थे। उन्होंने तमाखू को सुवास सम्पन्न करने में लवंग लगाने का विशेष प्रयोग किया था, उससे उनकी सृजन शक्ति की सभी व्यापारी वर्ग तथा किसान लोग प्रशंसा करते थे। वे किसी की नकल नहीं करते थे अपितु सभी लोग इन्हीं का अनुकरण करते थे। उनकी न्याय सिद्ध भाषा सर्वत्र अकाट्य रही उनके न्याय पूर्ण तर्क के आगे सबका सिर झुक जाता था। बड़े-बड़े शास्त्री, श्रीमंत, वकील, जज आदि उनकी प्रतिभा प्रसूत प्रज्ञा निष्पन्न बातों को सुनकर आश्चर्य चकित हो जाते थे। उनकी अपूर्व सामर्थ भी हम सभी के नयन गोचर होती थी। इस प्रकार की जानकारी 65 वर्षीय श्री भाऊ साहब देवगौड़ा पाटील से पं० सुमेरु चन्द्र जी दिवाकर जी ने प्राप्त की। धन्य था वह संत जिसने अखिल विश्व में व्याप्त मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम के अंधकार को अपने पंचाचार (दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य) व पंच महाव्रतादि से दूर किया उन मुनि पुंगव चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 शांति सागर जी (दक्षिण) महाराज के चरणों में विनम्र कोटिशः प्रणाम निवेदित करता हूं ॥

●●●

वाणी का चमत्कार / एकीभाव स्तोत्र का प्रभाव

परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज एक आध्यात्मिक ज्योति पुंज रहे थे उनके दिव्य प्रकाश व प्रताप से अनेकों जीवों ने अपने दुःखों, आपत्ति-विपत्तियों से मुक्ति पाई थी, आज भी उनकी श्रद्धा से श्रद्धालुओं के संकट व दुःख दूर हो रहे हैं। उनकी तप पूर्ण काया बड़ी प्रभावक थी। उनके शरीर से स्पर्शित हवा भी मनः संताप एवं रोगों को शमन करने वाली थी। उनकी वाणी सशक्त, गंभीर प्रौढ़, प्रामाणिक, अर्थयुक्त एवं सत्य रूप ही होती थी। वे चंचल/चपल नहीं थे वे वाग् विलासी नहीं आत्म विश्वासी थे। उनकी वाणी प्रायः कर अक्षरशः सत्य ही होती थी।

एक बार समडोली के ब्रह्मचारी जिनदास जी आत्महत्या करने के उद्देश्य से घर से निकल गये। काफी दूर जंगल पार करने के उपरांत उनके मन में भाव आया कि मरते वक्त एक बार परम पूज्य आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज के दर्शन और कर लूं और दर्शन करने से वो मात्र आत्महत्या के महापतन से ही नहीं बचे अपितु उस शारीरिक रोग से एवं अनादि काल से लगे जन्म, जरा, मृत्यु जैसे घातक रोगों से भी बचने के मार्ग को प्राप्त कर लिया, बात यूं हुई कि जिनदास जी समडोली वालों के मस्तक पर एक सफेद दाग हो गया, वह प्रारंभ में तो बहुत कम था, दूर से दिखता भी नहीं था किन्तु बाद में पूर्व भव के तीव्र असाता वेदनीय कर्मोदय से वह बढ़ता ही गया। ज्यों-ज्यों उपचार किया गया त्यों-त्यों रोग बढ़ता ही गया। क्योंकि वह सही औषधि थी ही नहीं। वे जब अनेक प्रकार की औपधि का सेवन मरहम आदि का प्रयोग करके थक गये थे। तव डॉ० वैद्य, हकीम आदि महानुभाव से मिले किंतु उनसे भी रोग में कोई लाभ नहीं हुआ। धीरे-धीरे उस दाग ने पूरे मस्तिष्क को घेरना शुरू कर दिया। वे चिंता निमग्न रहने लगे। उनकी वेदना का कोई पार नहीं था, वे घर से भी बहुत कम निकलते थे और निकलते भी तो सुबह-शाम के अंधेरे में। उन्हें अपना जीवन अपराधी या गुनाहगार जैसा प्रतीत होने लगा। लोगों के सामने आने से उन्हें बड़ा संकोच होता था।

अवर्णनीय लज्जा से उनका माथा सदैव झुका रहता था, उन्होंने मित्रों से मिलना भी कम कर दिया और वे मित्रों को चाहते भी नहीं थे। निर्दोष होते हुए भी लोग होनाचरण वाला समझेंगे इससे उनका दुख दिन-प्रतिदिन बढ़ता गया। एक दिन वे परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज के चरण सानिध्य में पहुंचे और आंखोंसे अविरल अश्रुधारा बहाते हुए उन्होंने अपनी समस्त मनोवेदना व्यक्त कर दी। आचार्य श्री ने उन्हें सांत्वना दी, धर्मोपदेश दे सम्बोधन दिया जिससे उनके अंदर अपूर्व साहस और धैर्य भाव जाग्रत हुआ और आत्मघात करने का महान पातक टल गया। इसके उपरांत आ० श्री ने उन्हें आचार्य वादिराज स्वामी द्वारा विरचित एकीभाव स्तोत्र का पाठ नित्य दिन में तीन बार करने को कहा। आ० श्री के आशीर्वाद के साथ-शुभ घड़ी, मुहूर्त, दिवस, तिथि, नक्षत्र, योग में उन्होंने पाठ करना प्रारंभ किया। तथा नित्य गंधोदक श्रद्धा के साथ मस्तिष्क पर लगाने लगे।

इस बात से उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि वह दाग शनैः-शनैः ठीक होना प्रारंभ हो गया—आ० श्री के वे शब्द उनके कानों में सदैव गूंजते रहते थे कि श्रद्धा से पाठ करो तो वादिराज मुनिराज की तरह से पूर्ण रूप से ठीक हो जायेगा।

"तुम्हारा रोग ठीक हो जायेगा" आ०श्री० का यह वाक्य मिथ्या नहीं होगा इस श्रद्धा से 3-4 सप्ताह के अन्दर वह दाग लगभग 95% ठीक हो गया वे आचार्य श्री के चरणों में श्रद्धा, भक्ति से ओत-प्रोत हो खुशी के आंसू बहाने लगे और बोले आ० श्री आपके आशीर्वाद से ये सब ठीक हो गया है, मात्र थोड़ा-सा रह गया, आ० श्री ने देखा, बताओ कहां है और उन्होंने अपना हाथ मस्तक पर रखा तो हाथ रखते ही वह छोटा-सा दाग भी तुरंत लुप्त हो गया। धन्य है ऐसे महान उपकारी आचार्य भगवंतों को। जिनकी कृपा दृष्टि से जन्म, जरा, मृत्यु जैसे रोग भी नष्ट हो सकते हैं। यदि यह रोग नष्ट हुआ तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर सामान्य मानव के लिए तो यह भी कम आश्चर्य की बात नहीं है।

ऐसे परम तपस्वी, चारित्र चक्रवर्ती आध्यात्मिक योगी दिगम्बर जैनाचार्य श्री शांति सागर जी महाराज के चरणों में श्रद्धा भक्ति पूर्वक प्रणाम करता हूं।

●●●

करुणा एवं दया के सागर

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज जन्म से ही दयालु एवं करुणाशील प्रकृति के थे।

प्रकृति के अनुसार ही उनकी प्रवृत्ति भी जीवन पर्यंत तदनुरूप ही रही। उनका दयामय भाव संसार के समस्त प्राणियों के प्रति सदैव विद्यमान रहता था, वे दीन-दुःखी जीवों को देखकर करुणा व दया से भर जाते थे। इतना ही नहीं वे पूर्ण प्रयत्न भी करते थे उन जीवों को दुःखों व संकटों से मुक्त करने का। किसी भी दुःखी प्राणी को देखकर ही उनके नेत्रों से सहज ही अश्रुधारा प्रवाहित हो जाती थी। वे पशु-पक्षियों को घायल अवस्था में देखते ही दया-करुणा व सहानुभूति से भर जाते थे। वे बहुत ही रहम दिल, कृपालु एवं संवेदनशील महामानव थे। भूखे-प्यासे पशु को स्वयं चारा डालते, कभी उन्हें रोटी आदि खिलाते, अपने खेतों पर उनके पानी पीने की भी व्यवस्था करते। वे पक्षियों को दाना चुगने से अपने खेत से कभी नहीं भगाते (उड़ाते) थे। वे पक्षियों के लिए भी वृक्षों पर अर्द्धकुंभ में पानी भर कर टांग देते थे जिससे पक्षी निर्भय होकर पानी पी सकें, तथा खेत पर भी खेत की ओर पीठ करके बैठ जाते थे जिससे पक्षी निर्भय होकर दाना चुग सकें। कोई किसान, सांप, बिच्छु, नेवला, मेंढ़क, मछली, छिपकली, कछुआ, खरगोश, बिल्ली, गिलहरी बर्र, ततैया, मधुमक्खी, चींटी, चींटा, चिड़िया, कबूतर, तोता, मुर्गी-मुर्गा, बकरी-बकरा आदि को मारता तो उसे प्रेम से समझाते। भैया! इसमें भी हमारी तरह प्राण हैं, तुम इन्हें क्यों मारते हो? यदि आज तुम इन निर्बल, दुर्बल, असहाय बेसहारों को या अनाथों को सताओगे तो इनकी हाय से तुम भी चैन से जी नहीं पाओगे और तुम भी किसी भव में इनके द्वारा सताये जाओगे। अतः तुम हिंसा के भाव को छोड़कर मन, वचन, काय से अहिंसा व दया धर्म का पालन करो, अहिंसा ही परम धर्म है, यह धर्म समस्त दुःखो को नष्ट करने वाला है, समस्त कर्मों का क्षय करके शाश्वत अवस्था व गुणों के खजाने को देने वाला है, वही धर्म संसारी जीव को संसार से निकालकर उत्तम सुख में धारण करने वाला है। उसी धर्म की शरण को तुम प्राप्त करो।

इत्यादि प्रकार से उपदेश देकर अपने साथी भाई किसानों को पाप करने से बचाते थे। तथा वे निडर व निर्भीक होकर सुनसान जंगलों में व कुदेवों, कुदेवी के मंदिरों में भी जाते, जहां के पण्डे पुजारी व पाखण्डी लोग पशु बलि दिलवाते थे। वे पशुबलि व पशुवध का निषेध करते और उन्हें तात्विक, तर्कपूर्ण, आगम व युक्ति सम्मत उपदेश देते और उन्हें सत्य धर्म का यथार्थ स्वरूप समझाते। जो भगवान होता वह कभी पशु बलि नहीं चाहता। एक अच्छा इंसान जीव वध, मारकाट नहीं चाहता तो परमात्मा में इतनी क्रूरता क्यों होगी? परमात्मा तो परम दयालु है, वह प्राणी मात्र के लिए पिता तुल्य है, क्या पिता तुल्य परमात्मा किसी जीव को मारने की आज्ञा देगा? अर्थात नहीं, क्या परमात्मा किसी के खून का प्यासा है, या मांस का भूखा है? क्या परमात्मा किसी के प्राण को लेने की आज्ञा देता है, क्या तुम्हारी रक्षा के लिए दूसरों का वध चाहेगा? अर्थात कभी नहीं चाहेगा। तो आपको कभी पशु वध नहीं करना चाहिए। जो आज तक अज्ञानता वश प्रमाद से या अन्य किसी कारण से पशुवध किया तो उसका प्रभु परमात्मा के चरणों में पश्चात्ताप करो और प्राणी मात्र को अपना सगा भाई मानकर उन पर दया करो। इस प्रकार का उपदेश देकर उन्होंने अनेकों मंदिरों में बलि प्रथा का अंत करा दिया। अतः वे "अहिंसा वीर" की उपाधि से सम्मानित भी थे। दया के साथ प्रेम मूर्ति भी थे। वे सर्प, बिच्छु कांतर, छिपकली आदि जीवों पर भी प्रेम करते थे उनसे कभी नहीं डरते थे। उनका मानना एवं कहना था कि बिना सताये वे जीव हमें भी नहीं काटेंगे और न ही वे हमें सताऐंगे। गरीब व्यक्तियों की सहायता करने के लिए वे सदैव मन, वचन, काय धन एवं कोई भी वस्तु दान देने में या समर्पण करने में कभी भी नहीं हिचकिचाते थे। कई बार स्वयं के भोगोपभोग व उपयोग की वस्तुएं दूसरों को दान में दे आते, उन्हें दूसरों को खिलाने में ज्यादा आनंद आता था स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को खिलाने का भाव रखते और स्वयं खाये बिना ही असीमित आनंद की अनुभूति दूसरों की सहायता करके प्राप्त करते थे। ऐसे महान संत को मैं, अपने हृदय में श्रद्धा के साथ स्मरण करता हूं।

●●●

सम्यक्त्व के दीपक

उन दिनों सम्यक्त्व का प्रभाव कम हो चुका था, मिथ्यादृष्टि जीवों की बहुलता थी, न केवल जैनेतर अपितु जैन बंधु भी हीनाचरण करने लगे थे उन्होंने अहिंसा धर्म को नाम मात्र के लिए ही स्वीकार किया था। उन्हें उस समय कोई सही मार्ग बताने वाला भी नहीं था। उस समय दिगम्बर साधक अत्यल्प थे। जो थे भी तो वे अधिकांश अपनी आध्यात्मिक चर्या में ही निमग्न अथवा, भट्टारक बनकर गद्दी की रक्षा व संवर्धन में मग्न थे ऐसा लोकोपकारी पुरुप उस समय कोई नहीं था जो निष्पक्षता के साथ स्वकल्याण करता हुआ परकल्याण करे। मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम के अंधकार में भटके हुए भव्य जीवों को सही दिशा बोध दे सकें। उस समय मुनि देवेन्द्र कीर्ति (देवप्पा स्वामी) जी से सातगोडा ने उत्तूर ग्राम में क्षुल्लक दीक्षा एवं यरनाल में मुनि दीक्षा लेकर जैन धर्म की अलख जगाई, अहिंसा धर्म का प्रचार-प्रसार किया, जैनत्व की ध्वजा को ऊंचा उठाने में प्रयासरत ही रहे, इतना ही नहीं उन्होंने जैन-जैनेतरों को सच्चे देव, शास्त्र गुरु व जिन धर्म की पहिचान व उपासना की विधि बताई। जैन व्यक्तियों के घर में भी सरागी देवी-देवता विराजमान थे। कोई पीपल को, कोई कुंआ को, कोई गोवर को, कोई गाय की योनि को, भगवान मान कर पूजते थे। उस समय रागी द्वेपी जीव भी भगवान मान कर पूजे जा रहे थे। जिनके पास स्त्री है, पुत्र है, हाथ में अस्त्र-शस्त्र है, मुकुट, माला, तलवार, फरसा है, लड्डू बर्फी खा रहे हैं, जटा लटा रखे हैं चिमटा व त्रिशूल धारण किये हैं, या धनुप पर डोरी चढ़ाये हैं उन्हें भगवान के रूप में लोग पूज रहे हैं। मुनि शांतिसागर जी ने बताया सच्चा देव वही हो सकता जो वीतरागी हो, जिसके अंदर किसी के प्रति राग-द्वेप नहीं है, जो क्षुधा पिपासा आदि अट्ठारह दोषों से रहित हैं, जो सर्वज्ञ है, अर्थात् तीन काल व तीनों लोकों की बात को युगपत् जानने व देखने वाले हैं, प्रत्यक्ष दर्शी हैं, समस्त पदार्थों के ज्ञाता-दृप्टा हैं, परम हितोपदेशी हैं, वही सच्चे देव हो सकते हैं, जो इसके विपरीत हैं वे कभी सच्चे देव नहीं हो सकते, उनकी पूजा अर्चना से कभी धर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती। अहिंसा धर्म के पोषक, अनेकान्त

रूप धर्म के उद्घोषक, स्याद्वाद शैली के प्रतिपादक, वीतरागता के संप्रेरक शास्त्र ही सच्चे शास्त्र हैं, उनके अनुसार सदाचार आदि का पालन करके ही आत्मा परमात्मा बन सकती है, बलि आदि चढ़ाने से नहीं (बलि का सही अर्थ पशु वध करना नहीं अपितु नैवैद्य चढ़ाने से है। भगवान के सामने बलि नहीं नैवेद्य चढ़ाना चाहिए)।

सच्चे गुरु भी वही होते हैं, जो विषय-कषाय आरंभ परिग्रह से रहित हों एवं ज्ञान ध्यान तप में लीन रहते हैं वे ही सच्चे गुरु व साधु हैं, इसके विपरीत नहीं। सच्चा धर्म भी वही है, जो संसार के दुःखों का अंत करने वाला हो, समस्त कर्मो का क्षय कर मुक्ति स्थान में पहुंचाने वाला हो, प्राणी मात्र का कल्याण करने में समर्थ हो। आ० श्री शांतिसागर जी महाराज के इस उपदेश का जन-जन पर गहरा प्रभाव पड़ा, जिससे मात्र जैनों ने ही नहीं अपितु जैनेतर बंधुओं ने भी मिथ्यात्व, अज्ञान, कदाचरण छोड़कर जीवन में सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान व सदाचरण का दिव्य प्रकाश प्राप्त किया।

कुछ महानुभावों ने पूछा कि जिनकी हमने कई पीढ़ियों तक पूजा की है, अब क्या करें? कैसे छोड़े। तब आ० श्री ने कहा कि नव दुर्गापर्व पर आप देवताओं की पूजा करते हो बाद में नदी तालाब में सिरा देते (विसर्जन कर देते) हो, बाद में पूजा नहीं करते न अपने पास ही रखते। बस उसी तरह अँब विसर्जन करना है–अब मुनि शांतिसागर तुम्हें समीचीन धर्म बताने आये हैं आप उसे जानो, समझो, सच्चे देवों की पूजा करो कुदेवों का विसर्जन कर देना चाहिए उन्होंने वैसा ही किया और सभी लोग जैन धर्म/सत्य धर्म के प्रति श्रद्धावान हो गये।

●●●

विपदः परिहाराय शोकः किं कल्पते नृणाम्।

पावके न हि पातः स्यादातपक्लेशशान्तये ॥30॥ क्ष.चू.

अर्थ–विपदाओं को दूर करने के लिए क्या मनुष्य का शोक समर्थ है? अर्थात् बिल्कुल नहीं है। गर्मी से होने वाले दुख को दूर करने के लिए अग्नि में प्रवेश करना उचित उपाय नहीं है।

दुष्ट को मारने से दुष्टता नहीं मरती

उस दिन हम सभी लोग अपने खेत पर काम कर रहे थे। गर्मी सबको बेचैन कर रही थी। धरती सूर्य के प्रखर प्रताप से तपी हुई थी बहुत दिनों बाद पानी की कुछ बूंदें आईं। किन्तु वे बूंदें पृथ्वी की तृषा को शांत नहीं कर सकीं अपितु पिपासा सौगुनी बढ़ गई, जैसे क्षुधातुर व्यक्ति को खाने के लिए कुछ दे दिया जाये तथा बहुत सारा स्वादिष्ट व इष्ट भोजन दिखा दिया जाये तो क्षुधातुर बहुत बेचैन हो जाता है तथैव उस पृथ्वी की भी यही दशा थी। इससे अधिक बढ़कर दशा मनुष्यों की थी, गर्मी के मारे वे झुलस रहे थे इतना ही नहीं पृथ्वी तल में रहने वाले सर्प और बिच्छु गोह दुमूही कीड़े-मकोड़े, कांतर-करेंत नेवला, गिलहरी, गिरगिट इत्यादि जंतु गर्मी के मारे अपने-अपने बिलों से निकल कर बाहर आने लगे। दो गज लम्बा एक सर्प वहां आया, तो मैंने उसे मार डाला और मैंने उसे मार कर अपने आपको गौरवान्वित महसूस किया और सभी लोगों ने मेरी प्रशंसा की। तभी वहां पर सातगोडा जी पाटील पधारे, हम सभी ने उनके लिए अभिवादन में प्रणाम स्वरूप राम-राम किया और उन्होंने आकर पूछा कि अभी आप लोग क्या चर्चा कर रहे थे, सभी के चेहरों पर प्रसन्नता भी है। प्रसन्नता का आप लोगों ने कौन-सा कार्य किया? मैं भी तो सुनूं। तब हम लोगों ने कहा कि आज तो हमने काल को ही मार दिया। तब वे बोले किस काल को मार दिया, मैंने कहा—भयंकर काले विषधर को परलोक पहुंचा दिया। इतना सुनते ही वे सातगोडा पाटील जी करुणार्द्र होकर बोले—ज्योति दमाले तूने यह अच्छा नहीं किया किसी जीव को मारने का तुम्हें क्या अधिकार है। जब तू किसी जीव को जीवित नहीं कर सकता तो जीवित को क्यों मार दिया? यदि हमें कोई थोड़ा भी कष्ट दे तो हम आकुल व्याकुल हो जाते हैं उसके प्रति बुरी भावनाओं से भर जाते हैं। एक कांटा लगने का कष्ट तो सहा नहीं जाता तब मृत्यु का कष्ट कैसे सहा जाता है और मृत्यु भी ऐसी कि जिसमें तड़फा-तड़फा के मारा हो, स्वतः और सकाल यदि मृत्यु नहीं हुई है

तो बहुत ही कष्ट होता है। गणू ज्योति ये तो बता काल तू है या वह सर्प है? वह तो तुम्हारे पास स्वतंत्र रूप से विचरण कर रहा था तूने बेरहमी से उसके प्राण ले लिये। दूसरे के प्राणोंको लेकर क्या कोई व्यक्ति चिरकाल तक जीवित रह सकता है? क्या तुम इसी प्रकार की मृत्यु को पाने के लिए तैयार हो? क्या तुम्हें अपने कार्य से संतुष्टि है? क्या तुम जीव वध को धर्म मानते हो? कोई व्यक्ति (तुम्हारे पर) तुम पर या तुम्हारे परिवार के किसी सदस्य पर लाठियों का प्रहार करे, तुमने कोई अपराध भी नहीं किया हो तो क्या तुम्हें वह व्यवहार अच्छा लगेगा? क्या एक निर्दोष प्राणी के प्राणों का ऐसे हरण करना चाहिए? क्या तुम्हारे धर्म ग्रंथों में दूसरों को मारना ही धर्म कहा हैं? भगवान राम ने कभी किसी को मारा? या मारने को धर्म कहा है? तब नत मस्तक गणू ज्योति दमाले की आंखों से अश्रुधारा बहने लगी। तब मैं अश्रुपात करते हुए बोला—मैंने बहुत बड़ा अपराध किया है, मुझे क्षमा कर दो। पाटील जी मुझे पाप से बचालो। तब उन्होंने कहा—ज्योति सच्चा पश्चात्ताप ही प्रायश्चित बन जाता है। तुमने जो कुकृत्य किया है। निसंदेह अज्ञानता से किया।

पूर्वा पर विचार करके नहीं किया अब तुम आगे के लिए ऐसा प्रण/नियम ले लो कि—"मैं जीवन में कभी भी संकल्प पूर्वक किसी जीव को नहीं मारूंगा।" तब से लेकर आज तक मैंने सर्प बिच्छू आदि तो क्या मैं किसी चींटी आदि तुच्छ कीड़े-मकोड़े को भी नहीं मारता। उनकी वाणी का मेरे ऊपर ऐसा असर हुआ तब से मैं उन्हें किसी महात्मा के रूप में देखने लगा आज भी उनके शब्द मुझे याद हैं, मेरे कान में गूंजते हैं, ज्योति! दुष्ट को मारने से दुष्टता नहीं मरती। माना कि सर्प दुष्ट है उसे मारने से उसका स्वभाव थोड़े ही बदल गया। उसके साथ भी प्रेम का व्यवहार करो, उसकी रक्षा का भाव रखो तो सर्प कभी तुम्हारा अहित नहीं करेगा, जहां कहीं भी जाना होगा चला जायेगा। हम कोई सृष्टि के निर्माता या न्यायाधीश तो नहीं हैं जो किसी को मारें या दण्ड दें। यदि हम किसी के प्रति बुरा व्यवहार करते हैं तो वैसा व्यवहार हमें भी प्राप्त होगा। ऐसा कर्म बंध कर लेते हैं और सुनो तुम्हारे धर्म ग्रंथ-रामचरित में भी लिखा है—"परहित सरस धर्म नहि भाई, पर पीड़ा सम नहिं अघ माई।" परोपकार / दया, करूणा, अहिंसा के समान कोई धर्म

नहीं है– और दूसरों को कष्ट देना / या जीव वध करना या हिंसा करने के समान कोई पाप नहीं अतः हमें जीवन में प्राणी मात्र की दया करनी चाहिए, किसी को कभी नहीं सताना चाहिए। उनकी बात से प्रभावित होकर मेरे साथियों ने तब से जीव वध का त्याग कर दिया आज वे चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी के अनुयायी या प्रशंसक बन गये।

अब तो हम उनके दर्शनों के लिए भी इतनी दूर नहीं जा सकते, उनकी याद में मैं कई बार रात्रि में रोया हूं, कई बार उन्होंने हम पर दया करके स्वप्न में दर्शन भी दिये हैं। ऐसे भगवान स्वरूपी महाराज को प्रणाम करता हूं, अपनी गलतियों पर पश्चात्ताप् भी करता हूं मैंने उन भगवान स्वरूपी पाटील को कभी कप्ट भी दिया होगा, बचपन में उनके प्रति हमने कभी हंसी मजाक में वुरा-भला भी कहा होगा, उनकी अच्छी वातों की हंसी भी उड़ाई होगी, उनसे आप लोग हमारी तरफ से क्षमा मांग लेना, वैसे तो उन्होंने माफ कर दिया होगा किंतु मन नहीं मानता मुझे लगता है कि मैंने जो पाप किया है उसका फल तो मुझे भोगना ही पड़ेगा। इत्यादि संस्मरण सुनाकर गणू ज्योति दमाले नामक 85 वर्षीय वृद्ध पुरुप पं० सुमेर चंद दिवाकर आदि महानुभावों की आत्मा को झकझोर के रवाना हुए। ऐसे अतिशय योगी चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांतिसागर जी महाराज को मैं अपने मन से स्मरण करता हूं।

●●●

हिंसा रहिए धम्मे, अट्ठारह दोस वज्जिाऐ देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे, सद्दहणं होइ सम्मत्तं।। आ.कुन्द-कुन्द स्वामी
अर्थ–हिंसा रहित धर्म में, अठारह दोष रहित देव में, निर्ग्रंथ व जिन प्रवचन में श्रद्धा न रखना सम्यक्त्व कहलाता है।

❋ ❋ ❋

वरं नरक वासोऽपि, सम्यक्त्वेन समायुतः।
न तु सम्यक्त्व हीनस्य, निवासो दिवि राजते।। सोमदेवाचार्य
अर्थ–सम्यक्त्व से युक्त हो नरक में वास करना श्रेष्ठ है, किन्तु सम्यक्त्व हीन होकर स्वर्ग में निवास करना अच्छा नहीं है।

अपूर्व वात्सल्य के धनी

कर्नाटक प्रांत में बेलगांव जिले के कुंभोज (भोंज) ग्राम में गणू ज्योति दमाले नाम का एक मराठा किसान था, जिसकी आयु उस समय लगभग 85 वर्ष की थी, वह लगभग दो मील की दूरी चलकर मध्यान्ह काल में बिना भोजन किये भी पं० सुमेर चन्द्र दिवाकर आदि महानुभावों से मिलने आया। उसे ज्ञात हुआ कि कोई सज्जन आचार्य महाराज के बारे में कुछ पूछने के लिए आये हैं। उसने आते ही सबको भक्ति सहित सविनय प्रणाम करके आचार्य महाराज के बारे में इस प्रकार बताया–"बचपन से ही मैं उनके सम्पर्क में रहा हूं, उनका खेत और हमारा खेत पास-पास है। वे दयालु भद्र परिणामी महापुरुष थे उनके अंदर अमीर-गरीब का भेद-भाव नहीं था। वे पाटील (जमींदार) थे फिर भी उन्हें इस बात का घमण्ड नहीं था। वे सभी की सहायता करते थे। वे अपने खेत से कभी पक्षियों को नहीं उड़ाते थे। पक्षियों के झुण्ड के झुण्ड उनके खेत में दाना चुगने आते थे। मैंने एक दिन उनसे कहा–पाटील हम अपने खेत के सब पक्षियों को तुम्हारे खेत में दाना चुगने के लिए भेजेंगे। उन्होंने कहा–भेजो यदि पक्षी हमारे खेत का सब अनाज भी खा लेंगे तो भी हमारे खेत में कमी नहीं आयेगी। वे पक्षी अपने भाग्य का ही तो खायेंगे, हमारा भाग्य का थोड़े ही खायेंगे। संसार के सभी जीव अपने-अपने भाग्य का ही खाते हैं, कोई किसी के भाग्य का नहीं खाता। बिना भाग्य के करोड़पति या अरबपति राजा-महाराजा को भी मूंग की दाल का पानी पीना पड़ता है, सूखी रोटी खानी पड़ती है, जमीन पर लेटना पड़ता है, घी, दूध, दही, नमक, शक्कर नहीं खा सकता, यदि खायेगा तो उसकी बीमारी और ज्यादा बढ़ जायेगी, जबकि एक मजदूर, या गरीब किसान अपने भाग्यवश कभी खीर पूड़ी खाता है तो कभी रूखी रोटी, उसे दूध-दही भी मिल जाता है। क्योंकि सबका अपना-अपना भाग्य है हम पक्षियों को दाना चुगने से भगायेंगे तो हमारा ही अंतराय कर्म का बंध होगा। अंतराय कर्म के उदय से फिर हमें भी भोजन नहीं मिलेगा। भगवान ऋषभदेव स्वामी हुए उन्होंने गृहस्थावस्था

में असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प कला आदि सत्कर्मों का उपदेश दिया था। जब बैल अनाज को खाने लगे तो उन्होंने उपदेश दिया कि इनके मुंह से मुसीका बांध दो जिससे अनाज न खा सकें। उससे ऐसा कर्म बंध हुआ कि आदिनाथ स्वामी ऋषभदेव को भी छह माह तक आहार नहीं मिला। अतः हमें कभी किसी के भोजन में, ज्ञान में, लाभ में, भोग व उपभोग में अंतराय / विघ्न नहीं डालना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने जो मुझे उपदेश दिया उसका प्रभाव मेरे जीवन में आज तक विद्यमान है। वे पक्षियों के लिए पानी की व्यवस्था भी करते थे। हम लोग शूद्रों को अपने कुंए से पानी नहीं लेने देते थे। किंतु महाराज की उन पर भी अपार करुणा थी वे कहते थे ज्योति सभी जीव एक बराबर हैं सब दया के पात्र हैं, सभी को पानी लेने दो, तुम पानी से भी ज्यादा पतले क्यों बनते हो। ज्योति! आज तू समर्थ है, उच्च कुलीन है तो अपनी जाति व कुल का घमंड करके शूद्रों को क्यों धमकाता है, वे भी तो इंसान हैं, कल इस करनी से तू भी तो शूद्र हो सकता है, अच्छी भावना से वे भी कल महान बन सकते हैं, उनको धमकाना, डांटना, फटकारना, उचित नहीं है। हमें गरीबों को नहीं सताना चाहिए। कोई संसार में शाश्वत गरीब या अमीर बनकर नहीं रहता, ये सब पुण्य पाप के खेल हैं, ज्योति! यदि हम सब पर दया करेंगे तो परमात्मा के समान दयालु कहलायेंगे, कभी हम भी परमात्मा बन जायेंगे। इंसान से घृणा करने वाला सच्चा इंसान नहीं है, वह दुष्ट, दुर्जन या दानव कहलाता है। उनके अंदर प्राणी मात्र के प्रति करुणा व दया का एवं सभी धर्मात्माओं के प्रति प्रेम व वात्सल्य का भाव था, उनके शब्द आज भी मेरे कान में ऐसे गूंजते हैं जैसे वे मानो अभी भी मुझे समझा रहे हों। वे परम आचार्य थे उनके चरणों का परोक्ष स्मरण कर उस वृद्ध पुरुष गणू ज्योति दयाल ने अश्रु बहाते हुए उनके प्रति अपनी श्रद्धा भक्ति प्रकट की। मैं उनकी परोक्ष में भक्ति सहित वन्दना करता हूं।

●●●

"निश्चित है मोक्ष जिनका"

24 जुलाई 1955 रविवार वि.सं. 2012 को किसी कार्यवश मुझे (सिंघई पन्ना लाल जैन रीवा को) आरा जाना पड़ा।

वहां पहुंच कर मैंने अपने कुछ व्यापारिक कार्यों को निपटाकर तथा कुछ कार्यों को स्थगित करके व समीपस्थ पवित्र तीर्थ क्षेत्रों की यात्रा करने का विचार किया। यथा क्रम दो दिन पावापुरी रहकर वहां की भाव सहित पुनीत वंदना करके 29 जुलाई 1955 शुक्रवार को रात्रि में राजगृह पहुंचा। मजदूर ने सामान ले जाकर श्वेताम्बर धर्मशाला में रख दिया। अतएव मैं भी वहीं ठहर गया। पहली बार ही मैं वहां गया था अतएव मेरे मन में कोई भेद भाव भी नहीं था प्रातः काल 30 जुलाई शनिवार को मैं स्नान हेतु कुण्ड की ओर चला किन्तु मार्ग अपरिचित होने से भूल गया और मैं रास्ता पूछ-ताछ कर वहां पहुंचा। दो सज्जन पुरुष भी वहां मुझे मिले। उन्होंने भी मेरी सहायता की। मैंने वहां जाकर कुण्ड के जल से स्नानादि किया तदुपरांत देव दर्शन की भावना से जिन मंदिर के बारे में पूछा, तो मालूम हुआ कि यहां नीचे कोई जैन मंदिर नहीं है। जैन मंदिर तो पर्वत पर ही है, अस्तु मैं दिगम्बर जैन मंदिरों की वन्दना हेतु ऊपर गया। वहां मैं पांचवी, पहाड़ी वैभार गिरि पर्वत पर पहुंच गया। वहां मैंने दर्शन किये। लगभग 11 बज चुके थे। यहां पुजारी काशी प्रसाद जी महाराष्ट्री ब्राह्मण कई पीढ़ियों से जिनेन्द्र भगवान की पूजा कर रहे हैं, वे पूजा करने हेतु नियुक्त है। मैं दर्शन-पूजन, भोजनादि कार्यों से निवृत्त होकर सामायिक करने के लिए बाहर स्वच्छ व शुद्ध हवा में बैठ गया। मैंने दिग्वन्दना करके, पंच-परमेष्ठी की वन्दना की नव देवताओं की वन्दना की तथा पंच नमस्कार मंत्र का जाप एकाग्र चित्त से करने लगा, जाप के दौरान जब मेरे नेत्र खुले तो क्या देखता हूं कि प० पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज विराजमान हैं, वे सौम्यमुद्रा युक्त पद्मासन में विराजित हैं, उनके शरीर की आभा अरुण/रक्तिम है। मैं (सिंघई पन्ना लाल जैन रीवा) उसे एकटक से देखता रहा तभी वह प्रतिबिम्ब एक क्षण में गुलाबी दिखायी दिया। इसके उपरांत प्रतिबिम्ब

पीत वर्ण का पुनः तपाये हुये सोने के समान दिखा इसके अनन्तर मैंने पुनः नेत्र खोल कर देखा तो वह प्रतिविम्ब बादाम की तरह धवल और पुनः स्फटिक मणि की तरह दैदीप्यमान होता हुआ हवा के झोंके के साथ विलय को प्राप्त हो गया, किंतु फिर भी मुझे यही आभास हो रहा था मानो वह पारदर्शी रूप हो। जैसा कि परमौदारिक शरीर धारी-तीर्थंकर केवली या अरिहंतों का होता वैसा दिखा। कब तक मैं विचारों में खोया रहा मैं यह सब कुछ भी नहीं समझ पा रहा था कि आचार्य श्री एकाएक सप्तवर्णों में दिखे और वह प्रतिविम्ब विलय को प्राप्त हुआ। इसका क्या अर्थ है, यह जानने के लिए मेरा मन आंदोलित/आकुलित था, सामायिक पूर्ण करके बारह भावनाओं का चिंतन किया तथा सामायिक का निष्ठापन किया, इसके बाद जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा के सन्मुख जाकर वंदनादि की, वंदना करते समय मुझे आचार्य श्री के वियोग का आभास हुआ, जिससे 2-3 मिनट तक मेरी आंखों से अविरल अश्रुधारा बहीं और मैं आंसू पोंछता हुआ बोझिल मन से नीचे आया। समस्त दिगम्बर जिनबिम्बों के (जो लगभग 25-30 होंगे) दर्शन करने गया तो वहां पर एक चित्र आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज का देखा, जिसमें चित्र के ऊपर दोनों कोने मुड़े हुए हैं जिससे उनकी आकृति पूर्ण रूप से ढक गई है। इससे मेरी धारणा और सुदृढ़ हो गयी कि आ० श्री० की आयु अल्प रह गयी। इस बात की चर्चा मैंने मलखान सिंह को व 2-3 सह यात्रियों से भी की। लोगों को यकीन ही नहीं हो रहा था। 11 अगस्त व 18 अगस्त तक के साप्ताहिक जैन मित्र व जैन संदेश समाचार पत्रों में आ० श्री की यम सल्लेखना का कोई समाचार नहीं था। इतना ही समाचार था कि नेत्र ज्योति कम हो गयी है-व स्वास्थ्य ठीक है उसके उपरांत ज्ञात हुआ कि आचार्य श्री ने यम सल्लेखना ग्रहण कर ली है - और जिस दिन मैंने दृश्य देखा था उसके 49 दिन बाद 18 सितम्बर, 1955 रविवार द्वितीय भाद्रपद सुदी 2 वि.सं. 2012 के प्रातः 6.50 पर आ० श्री ने नश्वर शरीर को छोड़ दिया देव / स्वर्ग अवस्था प्राप्त की। ऐसे दिव्य स्वरूप को धारण करने वाले आ० श्री निःसंदेह अल्पकाल में मुक्ति की अवस्था को प्राप्त करेंगे।

ऐसे परम पूज्य आचार्य श्री के चरणों में मैं अपने अंतस् की समग्र श्रद्धा और भक्ति के साथ प्रणाम करता हूं।

●●●

मां जैसी ममता

वारामती चातुर्मास के समय एक दिन परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज अपने संघ सहित शौचादि क्रियाओं से निवृत्त होकर नीरा नदी की नहर के किनारे से वापस लौट रहे थे उस समय आचार्य श्री के साथ पं० सुमेर चन्द्र दिवाकर व प्रो० सुशील कुमार आदि महानुभाव भी चल रहे थे। उस नहर में कुछ बालक भी स्नान कर रहे थे। उन बालकों को स्नान करते हुए देखकर आचार्य श्री रुक गये और एक वात्सल्य भाव से परिपूर्ण होकर एक मां की तरह से प्रेम भरी वाणी में बालकों से बोले–"यहां तुम लोगों को सम्भल कर स्नान करना चाहिए। यहां पर कुछ समय पहले एक आदमी की मृत्यु हो चुकी है।" इस प्रकार प्रेम भरी वाणी में समझाते हुए आगे बढ़ गये। हमें उस समय यही प्रतीत हुआ कि इतने बड़े संत होकर भी बालकों के प्रति माता के समान कैसी करुणा भरी हुयी है। उन बालकों को जागृत करते हुए अहिंसा व दया के सागर ने आगे गमन किया तो हमने देखा कि रास्ते में एक कांटों से युक्त एक डाली को स्वयं उठाया और जहां कांटों का ढेर लगा था वहां रख दिया। अंतरंग में कितनी करुणा भरी थी कि उन्हें दूसरों का भी ख्याल था कि कांटा किसी के लग नहीं जाये। धन्य है परोपकारी संत को। उन्हें दूसरों की पीड़ा भी अपनी पीड़ा से ज्यादा दुःखदायी बन जाती थी। कई बार दूसरे दुःखी प्राणियों को देखकर आर्द्रचित्त हो जाते थे। दुःख से पीड़ित व संक्लेशित व्यक्तियों को तथा साधर्मी बंधुओं को संकटापन्न व विपत्तिग्रस्त देख कर कई बार उनके नेत्र करुणा के जल से नम हो जाते थे।

उनके मन में संसार के दुःखी प्राणियों को देखकर ऐसी संक्लेशतम दया प्रादुर्भूत हो जाती थी, जैसी करुणा तीर्थंकर प्रकृति के बंध के समय पूर्व भव में तीर्थंकर महापुरुषों के होती है। वे भव भ्रमण करते संसारी जीवों के प्रति करुणावान होकर व्रती-महाव्रती बनने का उपदेश व प्रेरणा भी देते थे। उनके मन में मां जैसी करुणा होती थी, जैसे कोई मां अपने बेटे को कूप, नदी, सागर आदि में पतित होते नहीं

देख सकती उसी प्रकार वे भी माता के समान करुणावान होकर भव सागर में पतित होने से बचाने के लिए व्रती-महाव्रती संयमी बनाते थे। वे कहते थे—"वावा नो भ्यू नका, संयम धारण करा, संयम धारण केले बिना मुक्ति नाहीं।"

हे भव्य जीवो! संयम धारण करो, संयम धारण किये बिना मुक्ति नहीं हो सकती। डरो मत, ऐसे करुणाशील व दयावान संत को मैं निर्मल मन में स्व-पर उपकार की परम वृत्ति पाने हेतु स्मरण करता हूं।

●●●

ततो व्यापत्प्रतीकारं धर्ममेव विनिश्चिनतु धर्म।
प्रदीपैर्दीपते देशे न हि अस्ति तमसो गतिः।।31।। क्ष.चू.
अर्थ–धर्म ही दुःख का प्रतीकार करता है, इसलिए सदैव उसी का चिन्तवन/संग्रह करना चाहिए, क्योंकि जहाँ दीपक का प्रकाश होता है वहाँ अंधकार की स्थिति/गति नहीं होती है।

❄ ❄ ❄

वैराग्य सारं भज सर्व कालं, निर्गंथ संगं कुरु मुक्ति बीजं।
विमुञ्च संगं कुजनेषु मित्रः, देवार्चनं त्वं कुरु वीतरागे।।
अर्थ–जीवन के सार भूत वैराग्य को सर्वकाल सेवन करो। मुक्ति बीज स्वरूप निर्ग्रंथ साधुओं की संगति करो, दुर्जन मित्रों की संगति को छोड़ दो, और तुम वीतरागी जिनेन्द्र देव की अर्चना करो।

❄ ❄ ❄

सच्चु जि सव्वहं धम्महं पहाणु, सच्चु जि महिय लिगरूउ विहाणु।
सच्चु जि संसार समूह सेउ, सच्चु जि सव्वहं भण सुख हे उ ॥ रइधुकवि
अर्थ–सत्य सब धर्मों में प्रधान है, सत्य महीतल पर सबसे बड़ा विधान है, सत्य संसार समुद्र से तारने के लिए पुल के समान है, सत्य सब जीवों के मन में सुख उत्पन्न करने का हेतु है।

संयम है आत्मा का भोजन

एक बार परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज ने कहा कि बिना भोजन के शरीर शिथिल हो जाता है, अपना काम भी नहीं कर पाता और यदि दीर्घकाल तक भोजन न मिले तो नष्ट भी हो जाता है। अल्पकालीन भोजन का त्याग भी शारीरिक वेदना एवं कष्ट का कारण हो जाता है। बिना भोजन के शारीरिक सुख भी नहीं मिल सकता। इस बात को आप सभी लोग भली-भांति जानते हो, किन्तु इस बात को भूल जाते हो कि आत्मा भी बिना भोजन के आकुल-व्याकुल हो रही है। उसे भी दीर्घकाल से भोजन नहीं मिला। आत्मा को भोजन दिये बिना आत्मिक आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। आत्मा भी बिना भोजन के मानो मुरझा / कुम्हला रही है। वह मरणासन्न अवस्था को प्राप्त होने वाली है। यदि हम अपनी आत्मा को भोजन नहीं देते हैं तो शरीर को भोजन देना या दूसरों को भोजन कराना व्यर्थ ही है। अतः आत्मा को भी नित्य भोजन देना चाहिए।

आत्मा का पूर्ण भोजन है सकल संयम का पालन करना और नाश्ता देने का आशय है, अणुव्रतों को अंगीकार करना।

आचार्य श्री ने बारामती में सेठ गुलाबचंद खेम चंद जी सांगली वालों को व्रतों के बारे में मार्मिक उपदेश दिया। जिससे प्रभावित होकर उन्होंने व्रती बनने का दृढ़ निश्चय कर लिया। उन्होंने उस दिन उपदेश में कहा कि हमें तुम्हारे असंयमी होने से तुम्हारे ऊपर बड़ी करुणा व दया आती है, कि ये लोग जीवन के इतने क्षण व्यतीत हो जाने पर भी आत्महित के प्रति जागृत क्यों नहीं होते हैं। मनुष्य भव व उसका एक-एक क्षण बहुत मूल्यवान है, उस बारे में कभी सम्यक् चिंतवन क्यों नहीं करते।

आचार्य श्री ने कहा कि–"शास्त्रों में लिखा है कि "जो व्यक्ति विषय भोगों को भोगे बिना ही छोड़ देते हैं, वे उत्तम व श्रेष्ठ पुरुष हैं। जो विषयों का सेवन करके छोड़ते हैं, वे मध्यम पुरुष हैं तथा जो विषयों में जीवन पर्यन्त आकण्ठ डूबे रहते हैं जिनकी आसक्ति में वृद्धावस्था में भी कमी नहीं होती वे अधम पुरुष हैं तथा दुर्गति के पात्र हैं।

आचार्य श्री सदैव यही बात कहा करते थे कि देखो व्रती बनने से कभी डरना नहीं चाहिए, डरने से व्रतों का पालन कैसे होगा। असंयम को या संसार को जीतने के लिए साहस से काम लेना होगा और कर्मों को ललकार कर उनसे युद्ध करना होगा। उत्तम मार्ग तो यही है कि व्रतों में कोई दोप लगे ही नहीं, मध्यम मार्ग है, व्रतों में लगे दोपों का प्रायश्चित लेना। यदि उत्तम मार्ग की प्राप्ति नहीं हो सकती तो क्या मध्यम मार्ग को भी छोड़ देना चाहिए। चतुर्थ काल में भी व्रतों में दोष लगते थे, आज भी लगते हैं। मुनियों के लिए भी आचार्यों ने प्रायश्चित का विधान लिखा है। फिर आपको भी संयमी वनने से डरना नहीं चाहिए। अपूर्व साहस के साथ संयम पथ पर बढ़ना चाहिए। संयम ही दुर्गति का निवारण करने वाला है। यह साक्षात् देवायु के बंध का कारण है। सातिशय पुण्य का आस्रव व बंध कराने वाला है, पाप कर्मों का संवर व पूर्व वद्ध कर्मों की निर्जरा में कारण है। ऐसा संयम / या देश संयम आप अवश्य ही अंगीकार करें।

संयम में कोई कष्ट नहीं है, जितने कष्ट असंयमी रहकर भोगते हो, उतने कष्ट यदि संयमी होकर सहन करो तो कर्मो की विपुल मात्रा में निर्जरा होगी, पाप कर्मों का संवर होगा, और मोक्ष तत्व के निकट पहुंच जाओगे। आज के संयम के संस्कार आगामी भवों में संयम के लिए निमित्त बनेंगे। सकल संयमी व देश संयमी बनकर तुम निश्चित रूप से देव गति में जाओगे, वहां से पंचमेरु व नंदीश्वर द्वीप के अकृत्रिम चैत्य चैत्यालयों की वंदना भी कर सकोगे तथा सीमंधरादि तीर्थंकरों के समवशरण में जाकर उनकी साक्षात, दिव्य ध्वनि भी सुन सकोगे तथा किसी भी साधर्मी की रक्षा व सहायता भी कर सकते हो। किसी को धर्म का उपदेश व प्रेरणा भी वहां से दे सकते हो। यहां आगे-आगे निकृष्ट काल ही आ रहा है। यहां प्रचुर मात्रा में पापों की व दुःखों की वृद्धि निरन्तर होती रहेगी। अतः पंचम, षष्ठम, पुनः षष्ठम व पंचम काल के दुःखों से बचने के लिए संयम अंगीकार करना परमावश्यक है। नरकादि के दुःख का अंत करने में संयम ही परम कारण है। अतः आत्मा के भोजन स्वरूप संयम को अवश्य ही अंगीकार करो।

ऐसे करुणावान थे चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज। ऐसे निर्मल परिणामी, परम हितैषी संत के चरणों में मैं निरन्तर प्रणाम करता हूं।

●●●

अब उनका काल गया

परम पूज्य आचार्य रत्न श्री 108 शांति सागर जी महाराज जब क्षुल्लक अवस्था में ही थे, तब उन्होंने विहार कर जगह-जगह मिथ्यांधकार को विनष्ट करते हुए समाज को एक दिव्य प्रकाश रूप सम्यकत्व रत्न की प्रेरणा दी। क्षुल्लक अवस्था में प्रथम चातुर्मास कोगनोली में, दूसरा कुंभोज में तीसरा चातुर्मास पुनः कोगनोली में हुआ। इसके उपरांत वे जैनवाड़ी में आये। वहां चातुर्मास करने का निश्चय किया। वहां जैन समाज के अधिकांश घर हैं, किंतु वे प्रायः सभी मिथ्यात्व के अंधकार में ही डूबे थे। सभी जन 'कुदेव-कुदेवियों' की पूजा-अर्चना करते थे। आ० श्री ने उन सभी महानुभावों से मिथ्यात्ववर्धनी क्रियाओं का त्याग कराया था, और सम्यक्त्वोपदेश दिया, जिससे मिथ्यात्व में ग्रसित लोगों ने कुदेवों को अलग कर कई गाड़ियों में भर कर उन्हें नदी में सिरा दिया।

उस समय वहां के जो राजा थे वे यह जानकर आश्चर्य में पड़ गये कि ये तो बड़े पुण्य चरित्र महापुरुष हैं। ये भला हम लोगों के द्वारा पूज्य माने देवों को गाड़ी में भरवाकर नदी में डुबाने का कार्य क्यों कराते हैं? यद्यपि राजा और रानी दोनों ही महाराज की साधना व तपश्चर्या से खूब प्रभावित थे एवं उनके प्रति श्रद्धा, भक्ति, आदर व अनुनय-विनय के भाव भी रखते थे।

एक दिन राजा पूज्य श्री की सेवा में स्वयं उपस्थित हुआ और नम्र निवेदन पूर्वक पूछा कि–"पूज्य महात्मा जी! आप यह क्या करवाते हैं, जिन देवी-देवताओं को हम व हमारी जनता पूजती है, उन्हें आप गाड़ी में भरवाकर नदी में क्यों पहुंचवा देते हैं।"

महाराज श्री ने कहा–"राजन! आप कुछ प्रश्नों का उत्तर दो। आपके यहां भाद्रपद! आसोज के माह में गणपति की स्थापना होती है या नहीं?"

राजा ने कहा–"हां महाराज! हम लोग प्रत्येक वर्ष गणपति को विराजमान करते हैं, उनकी पूजा-अर्चना, भजन कीर्तन बड़ी ही श्रद्धाभक्ति से सामूहिक रूप में बहुत धूमधाम से करते हैं।

महाराज ने पुनः पूछा–"स्थापना के बाद आप क्या करते हैं।"

राजा ने कहा–"महाराज हम उनकी श्रद्धा के साथ पूजादि करते हैं।"

महाराज ने एक प्रश्न और पूछ लिया–"राजन! उत्सव के बाद आप क्या करते हैं?"

राजा ने कहा–"महाराज उन्हें हम पानी में सिरा देते हैं।

महाराज ने पुनः पूछा–"आप उनकी पूजा अर्चना आदि हमेशा क्यों नहीं करते।"

राजा ने कहा–"पर्व पर्यंत ही गणपति की पूजा का काल था। उसका काल पूर्ण होने पर उनको सिराना ही हमारा कर्त्तव्य है।"

महाराज ने पुनः एक प्रश्न और पूछ लिया कि–"उनके सिराने के बाद आप फिर किनकी पूजा करते हैं?"

राजा ने कहा–"इसके पश्चात्, शेष दिनों में हम राम, हनुमान आदि की मूर्तियों की पूजा-अर्चना आदि करते हैं।"

"राजन! जैसे पर्व पूर्ण होने के पश्चात् गणपति को आप सिरा देते हैं, और रामचन्द्र जी आदि की मूर्ति की पूजा करते हैं, इसी प्रकार इन देवों की पूजा का काल अब पूरा हो गया है जब तक हमारा आना नहीं हुआ था तब तक उनकी पूजा का काल था अब जैन गुरु के आ जाने से उनकी पूजा की आवश्यकता नहीं रही। अब उनको सिरा देना ही उचित है। जिस तरह आप राम-हनुमान आदि की पूजा करते हैं इसी प्रकार हमारे मंदिर में स्थायी मूर्ति तीर्थंकरों की व अरिहंतों की रहती है, उनकी पूजा करते हैं।

पूज्य श्री के युक्ति युक्त विवेचन से राजा का संदेह दूर हो गया और महाराज को प्रणाम करके संतुष्ट हो अपने राज भवन लौट गये।

धन्य है ऐसे सम्यक्त्वी, सम्यक्त्व प्रकाशक, चैतन्य रत्न स्वरूपी परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 शांति सागर जी महाराज को मैं ऐसे संत को भाव सहित स्मरण करता हूं।

●●●

एक बार फिर से कहो

परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज का उस समय चातुर्मास गजपंथा सिद्धक्षेत्र पर चल रहा था। पर्यूषण पर्व में अनुपम धर्म प्रभावना की। आ० श्री व संघस्थ साधु विशेष तप व ध्यान साधना से संसारी प्राणियों में व्याप्त मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम के अंधकार को विगलित कर रहे थे। उस समय दिन में आ० श्री के मांगलिक प्रवचन होते थे, रात्रि काल में पण्डित सुमेरचन्द्र जी दिवाकर शास्त्र वाचन एवं प्रवचन करते थे। वे प्रायः कर रइधु कवि विरचित अपभ्रंश भाषा में दसलक्षण धर्म की पूजा का ही सविस्तार विवेचन करते थे।

भादों सुदी दशमी की रात्रि में संयम धर्म के दिन (धूप दशमी को) संयम धर्म की व्याख्या कर रहे थे कि–"संयम बिन जीवन सकल सुन्न" अर्थात् संयम के बिना सकल/ सम्पूर्ण जीवन शून्य है या मुर्दे के समान है। आगे बताया–"संयम बिन घडिय म इक्क जाहु" अर्थ–संयम के बिना एक घड़ी भी व्यर्थ मत गंवाओ।

दूसरे दिन आचार्य महाराज ने उन्हें बुलाया और पूछा–"पं० जी कल शाम को क्या अर्थ कर रहे थे, अभी उसका सही अर्थ करो। पं० जी थोड़ा घबड़ाये-सोचा शायद कहीं अर्थ करने में गल्ती हो गयी है, वे जिनवाणी लाकर पुनः अर्थ करने लगे और पूज्यवर गल्ती हो गयी हो तो क्षमा करें कहकर वही अर्थ पुनः किया–

"संयम के बिना सारा जीवन शून्य है तथा संयम के बिना जीवन की एक घड़ी भी मत बिताओ।" इतना सुनकर आचार्य श्री बोले–"पं० जी इसका अर्थ एक बार और कहो।" पं० जी ने वही अर्थ पुनः किया तो आचार्य श्री मुस्कुराये। पं० जी इसका कारण नहीं समझ पाये। इसके बाद पुनः अर्थ करने को कहा, संघ के सभी साधु मुस्कुराने लगे तब पं० जी की समझ में आया कि आचार्य श्री क्या कहना चाहते हैं? उनकी प्रेरणा किस ओर है?

उनका अभिप्राय था कि पं० जी इस बात को कहते ही रहोगे कि जीवन में अंगीकार भी करोगे। पं० जी ने तभी कुछ अणुव्रतादि के नियम लिये प्रतिमाओं के व्रत लिए। धन्य हैं ऐसे तपस्वी को जो संसारी प्राणियों का कल्याण करने में निरन्तर प्रेरक निमित्त बनते हैं। ऐसे संतों का मैं निरन्तर स्मरण करता हूं।

●●●

दया का एक रूप

जब शौचादि क्रिया से निवृत्त होकर अपने हाथ में टूटे लोटे को लेकर वापिस आ रहे थे तो बहिन कृष्णाबाई ने पूछ लिया—"भैया! आज बहुत देर से क्यों आये? क्या हुआ? क्या आज भी किसी को उपदेश देते रह गये?"

सातगौड़ा ने उनकी बात को सुनकर भी कुछ नहीं कहा, तभी छोटा भाई कुंभगोड़ा बोल उठा—"भैया आज देरी से भी आये और हाथ में जो लोटा है वह भी टूटा हुआ है। आज अवश्य ही कोई न कोई बात है। हाथ में टूटे हुए लोटे को देखकर तो घर के सभी सज्जन उन्हें जिज्ञासा से पूछने लगे। न जाने क्या कारण हुआ। आज सातगौड़ा देरी से आया है, और लोटा भी टूटा है। यदि किसी को उपदेश देते हुए रह जाते तो लोटा कैसे टूटा? और किसी से लड़ाई-झगड़ा हो गया हो उसमें लोटा टूटा हो ऐसी तो आशंका भी नहीं की जा सकती। क्योंकि आज तक सातगौड़ा का किसी से झगड़ा हुआ ही नहीं।

फिर क्या कारण हुआ जोकि आज ये लोटा अभी एक घंटे पहले सही/अभग्न था, वह टूट कैसे गया? तब सातगौड़ा जी ने कहा—"आज भी उपदेश देने में टूट गया। स्वजनों।" परिवारजनों ने पूछा—"उपदेश देने में कैसे टूट गया? क्या आज किसी को मारने-पीटने का उपदेश दिया था। नहीं। जो मारने-पीटने की बात है, वह तो धर्मोपदेश हो ही नहीं सकता। धर्म तो अहिंसामय होता है, उसी अहिंसा/दया मय उपदेश को आज वाणी से नहीं शरीर से दिया था। सो कैसे?

"बात यूं हुई-जब मैं शौच के लिए जा रहा था तभी मार्ग में एक मेंढ़क को डसने के लिए आतुर सर्प दिखा। मैंने सोचा अब क्या करना चाहिए। मेरी सर्प व मेढ़क दोनों के प्रति करुणा उमड़ी। तब मैंने दोनों को धर्मोपदेश दिया। सर्प फिर आहार की आसक्तिवश उस मेंढ़क को नहीं छोड़ रहा था, उसे पकड़ने को ही मानो दौड़ने लगा। तब मैंने लोटे का पानी फेंककर - एक पत्थर पर लोटा बजाना प्रारम्भ किया- सर्प भय से भागा, बाद में मैंने वह लोटा विशेष ध्वनि या

लय से बजाया - जिससे सर्प फन फैलाकर नाचने को और मेंढक को डसने को तैयार हुआ। तब मैंने उससे कहा–

"यदि तुझे यही इष्ट है तो चल भले ही मुझे डस ले किंतु मेढ़क को छोड़ दे। जीव हिंसा करने से कभी भी सुगति प्राप्त नहीं होगी अतः हे भव्य जीव तू इसे छोड़ दे।

लोटे की निरन्तर ध्वनि करने से सर्प ने मेंढक को छोड़ दिया - जिससे मेंढक के प्राण बचे। बाद में सर्प भी अपने विल में घुस गया।"

कुंभगोडा ने पूछा–"भैया! तुम्हें उस समय सर्प से डर नहीं लगा।" "कूंभू डर काहे का। जब हम उसको नहीं सता रहे थे, तो वह हमें क्यों सतायेगा।" कृष्णाबाई ने कहा–"भैया! दुष्टों का स्वभाव तो अकारण ही दूसरों को कष्ट देना होता है, सर्प तुम्हारी भाषा क्या जाने वह तो दूध पिलाने पर भी जहर उगलता है, पालक को डसने वाला होता है।

सातगौडा बोले–"तंगी (वहिन)! चाहे भले सर्प ने मेरी भाषा नहीं समझी उसने मेरे भावों को तो समझा और यदि वह नहीं भी समझे फिर भी मुझे तो अपने कर्तव्य का पालन करना था, सो मैंने किया। मेंढक के प्राण बचे और सर्प पाप प्रवृत्ति से बचा और मैं उस दृश्य को देखकर संक्लेशित हो रहा था, सो मैं उस संक्लेशता से बचा।

तभी कुंभगोडा बोला–"भैया! ऐसी दया भी किस काम की जिसमें स्वयं प्राण ही जोखिम में पड़े हों, और अपना नुकसान करके दूसरों को सुखी करना तो मूर्खता है। लोटा भी तोड़ लाये और सर्प डस लेता तो सब दया रखी रह जाती आपको वहां से उठा कर लाना पड़ता।"

"कूंभू, ऐसा नहीं है कि हम कोई जोखिम लें ही नहीं सांसारिक कार्यों में लाखों जोखिम उठाते हैं, फिर धर्म के कार्य में जोखिम उठाने में क्या हानि है। दूसरी बात बिना जोखिम उठाये कोई लाभ नहीं मिलता। तीसरी बात उपकार करने के पूर्व कुछ त्याग तो करना ही पड़ता है तथा मुझे अंतरंग में पूर्ण विश्वास था कि जब मैं उसके प्रति अच्छा कर रहा हूं तो वह मेरा बुरा क्यों करेगा। यदि बुरा कर भी रहा है, तो मैं यही समझता कि मेरे पूर्वबद्ध पाप कर्मों का उदय है तो वह कर्म आज निजीर्ण हुआ और मैं एक कर्म से मुक्त हुआ तथा मेरा भाव उनकी

रक्षा का ही नहीं अपितु अपने मन की संक्लेशता को दूर करने का भी था। सो वह मैंने किया भी।''

धन्य है ऐसे सन्त सातगोडा नामक महानुभाव को। यही सातगोडा आगे चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शांति सागर जी के नाम से महान साधक के रूप में विख्यात हुआ।

आचार्य अकलंक स्वामी जी ने तत्वार्थराजवार्तिक में लिखा है कि तीर्थंकर प्रकृति के बंध के मुख्य कारण है संक्लेशतम दया, जीव मात्र का कल्याण करने की भावना इतनी हो जाये कि वह संक्लेशतम दया का रूप धारण कर ले तो वह जीव तीर्थंकर प्रकृति बांधने का अधिकारी होता है। संभवतः आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज भी भविष्य में तीर्थंकर प्रकृति बांध कर आगे तीर्थंकर बनें। ऐसी महान आत्मा को मैं भाव सहित स्मरण करता हूं।

●●●

दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधूनां वंदनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकं।। दे.द.स्तु.
अर्थ–जिस प्रकार छिद्र युक्त हाथ में जल नहीं ठहरता उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान के दर्शन व साधुओं की वन्दना करने से पाप नहीं ठहरते हैं।

❊ ❊ ❊

संवेग जणिद करणा णिस्सला मंदरोव्व णिक्कंपा।
जस्स दढ़ा जिण भत्ती तस्स भयं णत्थि संसारे ॥744॥ भ.आ.
अर्थ–संसार के भय से उत्पन्न हुई, मिथ्यात्व, माया, निदान शल्यों से रहित तथा सुमेरू की तरह निश्चल/दृढ़ जिनेन्द्र भगवान में जिसकी भक्ति है, उसे संसार का भय नहीं है।

श्रुत भक्ति हो तो ऐसी

एक बार आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज से जिनगोडा पाटिल (आ० श्री के अनुज कुंथगोड़ा पाटिल के सुपुत्र) ने पूछा–"आ० श्री श्रावक को धन का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए। आ० श्री ने कहा कि श्रावक धनार्जन करना जानता है वह व्यय करना भी जानता है। यदि उसने धर्ममार्ग को छोड़कर अर्थोपार्जन किया है तब उसका धन पाप कार्यों में व्यय होगा और अंतरंग धर्म भावना के साथ किया है तो धर्म कार्यों में व्यय होगा।

धार्मिक सम्पत्ति का मात्र लौकिक कार्यों में व्यय करना दुर्गति तथा महापाप का कारण है बहुत आरम्भ व परिग्रह रखना निसंदेह नरकायु के आस्रव का हेतु है। अतः इन सप्त क्षेत्रों में स्वकीय न्यायोपार्जित धन का या द्रव्य का उपयोग इन सप्त क्षेत्रों में दान के रूप में करना चाहिए तभी वह स्व पर हितकारी होगा।

जिनबिम्बं जिनागारं, जिन यात्रा महोत्सवम्।
दानं पूजां च सिद्धांतं लेखनं सप्त क्षेत्रकम् ॥

उन्होंने आगे इस कारिका छंद की व्याख्या भी की, तथा शास्त्र संरक्षण के विषय में उनका विशेष ध्यान था। उनका सोचना था कि कलिकाल में समीचीन शास्त्र या भगवान की वाणी ही अंधकार से व्याप्त संसार में भ्रमण करते हुए प्राणियों के लिए दीपक के समान है। अतः इनकी सुरक्षा-संवर्धन अत्यंत आवश्यक है। तभी पं० सुमेर चंद्र दिवाकर जी का इस आशय का पत्र आया–"पूज्य आचार्य श्री भूतबली स्वामी द्वारा विरचित महाधवला ग्रंथ के चार-पांच हजार श्लोक नष्ट हो गये हैं। उस समय उनको श्रुत संरक्षण का विकल्प हुआ। उस समय पं० जी सांगली में थे, वर्षाकाल में ही वे उनकी सेवार्थ कुन्थलगिरि पहुंचे। तब आ० श्री के दर्शनार्थ बम्बई से संघपति गेंदनमल जी, बारामती के सेठ-चंदूलाल जी सर्राफ तथा नाते-पूते से रामचन्द्र धन जी छावड़ा भी वहां पहुंचे। आ० श्री ने पं० सुमेरू चन्द्र जी शास्त्री दिवाकर के पत्र का वहां जिक्र किया तथा अपनी अन्तर्वेदना व्यक्त की। षट्खण्डागम,

कषाय पाहुड, मानों साक्षात् महावीर स्वामी की वाणी है, उन ग्रंथों पर आ० कुन्द-कुन्द स्वामी, आ० समंतभद्र स्वामी, आ० वप्प देव स्वामी, शामकुण्ड आचार्य ने टीकाऐं लिखीं थी। किन्तु ये सब नष्ट हो गई, मात्र कलिकाल सर्वज्ञ आ० श्री वीरसेन स्वामी द्वारा रचित संस्कृत भापा की लगभग 92 हजार श्लोक प्रमाण-धवला, जय धवला, महा धवला टीकायें विद्यमान हैं, उनकी भी क्षति हो रही है, लगभग 4-5 हजार श्लोक नष्ट हो गये है। अतः कोई ऐसा यत्न करना चाहिए जिससे जिनवाणी या श्रुत की रक्षा हो अन्यथा श्रुत विहीन भावी पीढ़ी पथभ्रष्ट हो जायेगी - वह समीचीन से अनभिज्ञ होकर दुर्गति की पात्र बन जायेगी। अतः ताम्रपत्रों पर लिखवाने की योजना करनी चाहिए, जिससे वे पवित्र ग्रंथ हजारों वर्प पर्यंत सुरक्षित रहें। इस पुनीत कार्य में लाख रुपये भी लग जायें तो भी परवाह नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार उद्‌बोधन देते हुए उनके प्रत्येक शब्द में साहित्य संरक्षण के प्रति उत्कृष्ट अनुराग दिखायी दे रहा था। उस समय दिया गया उनका मार्मिक सम्बोधन बहुत ही प्रभावकारी रहा, तभी तत्काल इस कार्य के लिए पं० जी ने 11, 111 रुपये शास्त्र संरक्षण के निमित्त अर्पण किये। अन्य महानुभावों ने भी दान दिया और वह राशि तीन लाख रुपये हो गयी। जिससे वे शास्त्र ताम्र पत्रों पर छपवाकर सुरक्षित कर दिये गये। धन्य आ० महाराज की श्रुत भक्ति। ऐसी ही चिंता आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व धरसेन स्वामी को हुई थी, जिसकी पूर्ति पुप्पदंत व भूतबलि नामक श्रमणराजों ने की। ऐसे पूज्य आचार्यवरों के पुनीत चरणों में श्रद्धा, भक्ति व समर्पण के साथ, तथा सिद्ध श्रुत आचार्य भक्ति पूर्वक, कोटिशत प्रणाम करता हूं।

●●●

दर्शनेन जिनेन्द्राणां, पाप संघात कुंजरम्।
शतधा भेदमायाति, गिरि वज्रो हतो यथा।। आ.वीरसेन स्वामी

अर्थ–जिस प्रकार वज्र के माध्यम से पर्वत के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार जिनेन्द्र भगवान के दर्शन से हाथी के समान पाप रूपी समूह के खण्ड-खण्ड हो जाते हैं।

निर्मल दृष्टि का प्रभाव

कलिकाल के दुष्प्रभाव से ही वर्तमान काल में धर्महास मान अवस्था को प्राप्त है। इतना ही नहीं यह कलिकाल भी हुण्डावसर्पिणी काल के अन्तर्गत है। जिस काल के आने से विश्व में अनहोनी घटनाऐं घटती हैं। इस काल में भी कुछ घटनाएं घटीं। जैसे कि–तीर्थंकर पर उपसर्ग का होना, चक्रवर्ती का मान भंग, तीर्थंकर के पुत्रियों का जन्म, तीर्थंकर का एकाधिक पद का धारी होना, तीर्थंकर का तृतीय काल में जन्म व मोक्ष होना, चतुर्थकाल में धर्म का विग्रह होना, पंचमकाल में भी महापुरुषों का मोक्ष जाना, इत्यादि।

इस कलिकाल के प्रभाव से धर्म व धर्मात्माओं पर वड़े-बड़े संकट आये महापुरुषों ने उपसर्ग सहन किये। कई बार तो प्रबुद्ध जीव भी उपसर्ग से भयभीत व विचलित होकर धर्म को भूलकर अधर्म का पक्ष लेने लगे। ऐसी विपम स्थिति में भी प० पू० आचार्य श्री की दृष्टि निर्मल व विशुद्ध रही, उन्होंने अपनी सिंधु समान गंभीरता, उदारता, सहृदयता को नहीं छोड़ा और न ही कभी अपनी श्रद्धा को विचलित होने दिया। वे कहते थे विज्ञान भले ही कितना आगे निकल जाये किन्तु वह कभी सर्वज्ञ की वाणी खण्डन नहीं करेगा, जब तक खण्डन कर रहा है तब तक उसका ज्ञान अधूरा ही है। वैज्ञानिक अपना भौतिकता सम्बन्धी कितना भी विश्लेषण करें, किन्तु कभी भी सत्य को असत्य या असत्य को सत्य नहीं कर सकता। भले ही कुछ समय के लिए भ्रमित कर दें, जैसा कि कर भी रहे हैं, किन्तु वस्तु के स्वभाव का व वस्तु का सर्वांश विनाश या उत्पाद नहीं किया जा सकता। प०पू० आचार्य श्री कहते थे कि भले ही पूरी दुनिया एक मत से किसी बात को कहें फिर भी हमें सर्वज्ञ भगवान की वाणी प्रमाणिक है, वह सर्वत्र और सर्वथा ही सत्य है। यदि सर्वज्ञ की वाणी के विरुद्ध सारा संसार भी हो तो भी हमें किसी बात का डर नहीं

है। जिनेन्द्र भगवान की वाणी के ज्ञान, श्रद्धान व आचरण से ही आत्मा का कल्याण सम्भव है। उनकी आगम के प्रति दृढ़ श्रद्धा, संयम में अडिग आस्था, वीतरागता के मार्ग की निष्ठा हम संसारी प्राणियों के लिए आदर्श रूप में ही थी।

उनकी विशुद्ध साधना से उन्हें जो दिव्य दृष्टि प्राप्त थी वह अलौकिक व अनुपमेय ही थी। ब्र० जिनगोडा (जिनदास समडोली) आचार्य श्री की सेवा में प्रायः करके रहते थे। एक बार आचार्य श्री ने ब्रह्मचारी जी को बुलाकर अकस्मात आदेश दिया कि तुम तुरंत यहां से समडोली चले जाओ। वे (ब्रह्मचारी जी) आ० श्री की आज्ञा सुनकर चकित हुए कि आ० श्री ने ऐसा आदेश कभी नहीं दिया, न जाने क्या कारण है? मेरा मन आ० श्री के चरणोंमें रहने को लालायित है, किन्तु गुरु आज्ञा टालने का दुस्साहस नहीं कर सकता, रुकने का निवेदन किया तो पुनः वही आदेश कि एक मिनट रुके बिना ही जल्दी अपने घर जाओ। केवल आदेश ही प्राप्त था, आदेश का कारण अज्ञात था।

ब्रह्मचारी जी ने सोचा कि मुझसे ऐसा कौन-सा अपराध हो गया जो आ० श्री ने ऐसा आदेश दिया। वे मन मसोस कर, अपने नेत्रों से अश्रु बहाते हुए अपने घर निकल गये। जब वे समडोली पहुंचे तब ज्ञात हुआ कि कुछ बदमाशों ने उनके भानजे दामाद (बहिन की लड़की के पति) को खेत में रात्रि में मार डाला था। अतः वहां पहुंचकर जिनदास जी ने वहां समस्त स्थिति को संभाला, यदि वे नहीं पहुंचते तो और भी कोई बड़ा अनर्थ भी संभावित था। यह घटना आचार्य श्री के संज्ञान में आयी। सत्य है निर्मल दृष्टि वाले, विशुद्ध परिणामी, अभेद रत्नत्रय धारक, निश्चययोगी, वा निर्विकल्प ध्यानी को कुछ भी असंभव नहीं है। ऐसी विशुद्धात्मा, निर्मल परिणामी संत परम पूज्य आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज को मैं भक्ति भाव सहित पुनः-पुनः प्रणाम करता हूं। हे गुरुदेव ऐसी निर्मल दृष्टि सब को प्राप्त हो।

●●●

नागराज व वनराज भी नतमस्तक

परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 शांति सागर जी महाराज, परम विरागी, निस्पृह, प्रशांत मूर्ति, सरल व सहज परिणामी संत थे। वे प्रायः करके अनशन, ऊनोदर व्रत परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन व काय क्लेश तप में संलग्न रहते। कई बार बेला, तेला व चौला के उपवास करते, तो कभी एकांतर, द्वयान्तर, त्र्यांतर आहार करते, तो कभी 5-6 दिन बाद पारणा करते और पारणा भी सदैव भूख से कम। उन्होंने मुनि अवस्था में कभी पूर्णोदर आहार नहीं किया। वे सदैव अवमौदर्य व्रत का पालन करते, रसों का त्याग उनका गृहस्थावस्था से ही था। कभी कदाचित् एक-दो रस ग्रहण करते। उनका वृत्ति परिसंख्यान तप (आहार नियम) इतना कठिन होता था कि कई बार सप्ताह-सप्ताह तक के उपवास भी हुए। वे एक ही आसन से 5-6 घंटे तक भी आसानी से बैठे रहते और गर्मी में धूप में खड़े होकर, सर्दियों में कई बार बाहर छत पर खड़े होकर सामयिक करते, वर्षा काल में भी कई बार वृक्षों के तले बरसते पानी में सामायिक करते। शरीर को कष्ट देते और अपनी समता की परीक्षा करते। इतना ही नहीं वे अंतरंग तपों के प्रति भी सदैव सजग रहते। प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्ति, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग व ध्यान इन अंतरंग तपों में भी कभी कमी नहीं देखी। छोटी सी गलती हो जाने पर भी वे बड़े से बड़ा प्रायश्चित स्वीकार करते। वे जिनेन्द्र भगवान, जिनागम व निर्ग्रंथ साधुओं के प्रति विनम्र व्यवहार करते। अपने संघस्थ या अन्य संघस्थ, छोटे-बड़े सभी साधुओं की यथा अवसर, आवश्यकतानुसार वैय्यावृत्ति व सेवा करते। प्रायः करके वे सदैव स्वाध्याय-चिंतन मनन में कायोत्सर्ग व ध्यान में ही अपना समय व्यतीत करते। वे अंतरंग तप के पालन करने में कभी उत्साहहीन नहीं हुए। उनकी तपश्चर्या अद्भुत थी।

एक बार जब वे कोगनोली में सामायिक में संलग्न थे तभी एक लगभग 8

फीट लम्बा काला नाग वहां आया और प० पू० महाराज जी के शरीर से ऐसे लिपट गया जैसे मानो चंदन के वृक्ष से ही लिपटा हो। शायद उसे भी चंदन के वृक्ष जैसी, गंध व शीतलता का अनुभव हुआ हो, तभी तो वह लगभग 2 घंटे तक शरीर से लिपटा रहा। वह देखने से भी भयानक था तथा वजनदार भी था। पू० महाराज श्री का शरीर तपा हुआ, शांत परिणामों से युक्त तो था ही बलिष्ट भी था तथा वह नाग के वजन को सह गये अन्यथा कोई अन्य पुरुष डर के मारे वैसे ही भावी गति को प्राप्त हो जाता इतना वजन पड़ते ही व उस भुजंग को देखकर मूर्च्छा खाकर गिर पड़ता। वहां इस दृश्य को सैकड़ों ही नहीं, हजारों लोगों ने प्रत्यक्ष में देखा, किन्तु आगे उसका कुछ उपाय कोई नहीं कर सका, सर्प स्वतः ही उतर कर चला गया। इसी प्रकार एक बार जब आ० श्री गोकाक की गुफा में ध्यान-साधना में संलग्न थे तब वहां जंगल में एकांत व निर्जन स्थान में शेर आदि हिंसक जानवर भी आये। यह क्रम एक दिन ही नहीं कई सप्ताह तक चला। प्रत्येक अष्टमी व चतुर्दशी को ध्यान करने हेतु वे वहीं जाते थे और जंगली हिंसक जानवर भी प्रेम पूर्वक उनके पास ऐसे ही बैठ जाते थे जैसे कि कोई बालक-बालिकाएं अपनी माता के पास बैठ जाते हैं। इस प्रकार सर्प, बिच्छु व शेर कृत उपसर्ग एक बार नहीं अपितु जीवन में कई बार हुआ। धन्य हैं ऐसे दृढ़ साहसी, निर्भीक तपस्वी को जिसे कोई नागराज या वनराज हिला नहीं सके और न ही विचलित कर सके, तब वे स्वयं ही उनके चरणों में नतमस्तक हो गये। ऐसे निर्भीक तपस्वी को मैं कोटिशः प्रणाम करता हूं।

●●●

साधु रूपं समालोक्य न मुञ्चत्यासनं तु यः।
दृष्टापमन्यते यश्च, स मिथ्या दृष्टि रुच्यते।। आ. रविषेण जी.

अर्थ–जो प्राणी साधु को सामने से आता हुआ देखकर भी अपने आसन को नहीं छोड़ता, प्रत्यक्ष में देखकर भी अपमान करता है, वह नियम से मिथ्यादृष्टि होता है।

तीर्थभक्ति एवं करुणा का सागर

तीर्थक्षेत्र सामान्य क्षेत्रों की अपेक्षा एक विशेष महत्ता अपने अंदर रखते हैं, उन क्षेत्रों की भाव सहित वन्दना करने से भव्य जीव संसार सागर के तट को प्राप्त कर लेते हैं। तीर्थ शब्द का अर्थ भी यही है–"तीर्यते भव सागर अनेन स तीर्थः।" अर्थात् धर्म तीर्थ ही आत्मा का कल्याण करने में निमित्त कारण है। तीर्थंकरादि महापुरुषों ने गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान व निर्वाण कल्याणक की अवस्था को जिस भूमि पर प्राप्त किया, तब से वह भूमि भी उन महापुरुषों की पदरज से पावन है। अतः इन तीर्थों की वंदना करने से वे पावन या परम पवित्र परमाणु तक जीवों के अंतरंग में भी विशुद्धि का संचार करने वाले हैं। प० पू० आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज ज्ञान, ध्यान व तप की साधना में तो अग्रसर थे ही, किन्तु जिनाराधना में भी उन्होंने भव्यजनों के लिए आदर्श स्थापित किया।

तीर्थस्थान के दर्शन करना, पूजन करना, स्तुति, भक्ति व वंदना करना, उस स्थान से निर्वाणादि को प्राप्त भगवंतों का स्मरण करना तो प्रायः सभी भक्तों में दृष्टिगोचर होता है, किन्तु तीर्थस्थान पर जाकर, असीमित विशुद्धि प्राप्त करके अपनी आत्मा को समुन्नत बनाने एवं परम पद को प्राप्त करने की भावना से अनुप्रेरित हो संयम भाव की शरण को कितने व्यक्ति प्राप्त कर पाते हैं? यदि विचार कर देखा जाये तो ऐसे व्यक्तियों की संख्या अल्प ही होगी।

प०पू० आ० श्री जब गृहस्थावस्था में थे, तभी 32 (बत्तीस) वर्ष की आयु में शाश्वत निर्वाण क्षेत्र सम्मेद शिखर जी की वंदना हेतु गये, तभी से उन्होंने निर्वाण तीर्थ की वंदना की स्मृति हेतु घी व तेल भक्षण का आजीवन त्याग कर दिया एवं जीवन पर्यंत के लिए एकाशन करने का नियम ले लिया था। भोगी व्यक्ति अपने शरीर की सुरक्षा करने हेतु इतना बड़ा संयम (घी-तेल का त्याग व जीवनभर एकाशन का नियम) यकायक नहीं ले सकता। किंतु आ० श्री ने बुद्धि पूर्वक अपनी इन्द्रियों

पर विजय प्राप्त करने हेतु व तप की सिद्धि के लिए इतना तप व संयम अंगीकार कर लिया। रसना इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करना, मन का निग्रह, ब्रह्मचर्य व्रत की निर्दोष साधना व जीवन पर्यंत नमक त्याग करना। ये चारों कार्य असंभव तो नहीं किन्तु अच्छे-अच्छे साहसी व्यक्तियों के लिए भी दुःसाध्य अवश्य हैं। आ० श्री ने सहजता में ही इनकी साधना की। शिखर जी की यात्रा उस समय भी उन्होंने (सातगोडा ने) अत्यंत श्रद्धा व भक्ति के भावों से अनुप्रेरित होकर की थी। शाश्वत निर्वाण भूमि सम्मेद शिखर जी की वंदना सहज व सरल काम नहीं है। इस क्षेत्र की वंदना हेतु भी चिरकाल का संचित पुण्य चाहिए, विना पुण्य के यह कार्य असंभव है तथा नरकादि की आयु के बंधनों को तो यह यात्रा तद्भव में असंभव ही है। क्योंकि सम्मेद शिखर जी की भाव सहित वन्दना करने वाला प्राणी निस्संदेह कुछ भव लेकर मुक्ति को प्राप्त होता है। ऐसा भव्य भक्त अधिकतम संसार की अवस्था में 48 (अड़तालीस) भव तक रह सकता है और कम से कम एक-दो भव में भी मोक्ष जा सकता है।

पर्वत पर चढ़ते समय वंदक अत्यंत अल्प सामान लेकर जाते हैं, जोकि इस बात का प्रतीक है कि उन्नति के शिखर पर जाने के लिए अत्यल्प परिग्रह ही रख सकते हैं अथवा निष्परिग्रह ही यात्रा संभव है। परिग्रह के नाम पर शरीर पर स्थित वस्त्र व शरीर भी अनावश्यक प्रतीत होते है। ऐसी भावना होती है कि शरीर भी फूल के समान हल्का हो जाये। वहां चढ़ते समय न भूख-प्यास की चिन्ता रहती है और न ही दूसरे की इंतजारी की भावना। अपितु ऐसा मन कहता है कि जल्दी से मैं प्रभु परमात्मा के चरणों में पहुंच जाऊं, पंख हों तो उड़कर ही पहुंच जाऊं। श्रांत आदमी को अपना शरीर भी भारभूत प्रतीत होता है, तथा स्थूलकाय व्यक्ति जल्दी थक जाता है और दुबला-पतला व्यक्ति बड़ी स्फूर्ति से पर्वत पर चढ़ जाता है। जब महिलाएं पर्वतराज पर विद्यमान तीर्थंकरों के चरण चिन्हों की वंदना करने हेतु चलती हैं तब वे अपने शिशुओं का भार भी सहन करने में असमर्थ रहती हैं, तो वे अपने शिशुओं के लिए नौकरों, डोली वालों या गोद वालों का सहारा लेती हैं। वे माताएं जो अपने बालकों को एक क्षण के लिए भी अलग करना नहीं

चाहती उन्हें भी अपने शिशुओं को यात्रा के समय अलग करना पड़ता है। सभी अपनी-अपनी चिंता में व्यस्त रहते हैं। दूसरे का ध्यान रखने वाले महानुभाव बहुत कम ही होते हैं।

जब सातगोड़ा (आ० श्री शांति सागर जी महाराज) पर्वतराज पर वन्दना हेतु चले, तब उनकी दृष्टि एक वृद्ध माता पर पड़ी, जो कि प्रयत्न करने पर भी चढ़ने में असमर्थ हो गयी थी। दो-चार कदम चलकर पुनः बैठ जाती उसके पास डोली की व्यवस्था हेतु पैसा भी नहीं था। किन्तु उस माता का यात्रा करने का भाव बड़ा प्रबल था। उसके नेत्र उसकी भक्ति के आवेग से नम हो रहे थे। महामना सातगोडा के मन में उस वृद्धा के प्रति करुणा, वात्सल्य व दया का भाव प्रादुर्भूत हुआ। इन्होंने उस वृद्धामाता को आश्वासन देते हुए, धैर्य बंधाया और अपनी पीठपर उनको बैठाकर पर्वतराज की कठिनतम वंदना करा दी। उस समय मानों सातगोडा ने मानवता की सेवा करने का गुरुत्तर भार उठाकर यह परीक्षा दी कि वे आगामी काल में मानवता को गर्त से उठाकर ऊंचाइयों तक ले जाने में समर्थ होंगे।

इसी प्रकार सातगोडा ने राजगिरि की वंदना की। वहां पांच पहाड़ियों की वंदना की तथा वहां की भक्ति, स्तुति वंदना की। वहां की वंदना सम्मेद शिखर जी की वंदना से भी दुष्कर वंदना है। वहां पर भी वंदना के समय एक वृद्ध पुरुष (जो वंदना करने में स्वयं को सर्व प्रकार असमर्थ एवं असहाय महसूस कर रहा था) को अपनी पीठ पर बैठा कर सानन्द यात्रा कराई। धन्य हैं ऐसे महामना सातगोडा (जो कि बाद में चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी बने) के लिए जिन्होंने धर्म, संस्कृति, सभ्यता एवं मानवता का संवाहन किया एवं मानव के अन्दर मानवता को प्रकट करने के लिए व संवर्धन करने के लिए सम्यक् पुरुषार्थ किया।

मैं उन परम पूज्य चा० च० आ० श्री शांति सागर जी महाराज के पुनीत चरणों का अपने मन में श्रद्धापूर्वक स्मरण करता हूं।

●●●

वाणी व व्यवहार में मधुरता

परम पूज्य आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज (दक्षिण वाले) अपने संघ सहित बम्बई के समीपस्थ ग्राम अहमदनगर से निकल रहे थे। उनके आगमन का समाचार जैन व जैनेतर बंधुओं को भी ज्ञात हुआ, सभी सज्जन महानुभाव उनके दर्शनार्थ व वंदनार्थ पधारे। सभी ने उनकी चरण वन्दना कर अपने भाग्य को सराहा। उसी समय वहां कुछ श्वेताम्बर भाईयों का समूह एक श्वेताम्बर साधु साथ लिए आये। वे जानते थे कि आ० श्री दिगम्बर धर्म के दृढ़ श्रद्धानी हैं। वे हम श्वेताम्बर साधु व श्रावकों को मिथ्यादृष्टि कहेंगे। क्योंकि आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी ने भी हमें संशय मिथ्यात्वी कहा है। अतः वे भी बिना कहे नहीं मानेंगे और यदि उन्होंने हमें नीचा दिखाने का प्रयास किया तो हम भी उन्हें बता देंगे कि हम कौन हैं? कौन है मिथ्यादृष्टि और कौन है सम्यग्दृष्टि?

इस दूषित भावना को मन में धारण कर उन श्वेताम्बर साधु ने आकर सीधा एक प्रश्न महाराज से किया? नमस्कार व वन्दनादि भी किसी ने नहीं की। उनके भाव भी कलुषित दिखायी दे रहे थे। उन श्वेताम्बर साधु ने आचार्य महाराज से पूछा–"महाराज! आप हम लोगों को क्या समझते हैं?" उस समय आचार्य महाराज ने बड़ी मधुरता व सरलता-सहजता के साथ कहा–"हम तुम्हें अपना छोटा भाई समझते हैं।" इस रस पूर्ण मधुर उत्तर को सुनकर - वे सभी पानी-पानी हो गये और समस्त समूह के साथ वे साधु महाराज-आचार्य श्री के चरणों में नतमस्तक हो गये। तब आगे आचार्य महाराज बोले–"पहले हममें और तुममें कोई अन्तर नहीं था, पश्चात् कारण विशेष से (अंतिम श्रुत कवेली भद्रबाहु स्वामी के समय से) अंतर या पृथक पना हो गया है। पूर्व में तो आप भी इसी मार्ग के अनुसरणकर्त्ता थे, इस बात को स्वीकार करते ही हैं। आ० श्री ने ये सब चर्चाऐं बड़ी आत्मीयता के साथ प्रेम व वात्सल्य के रस में सने शब्दों में व्यक्त की, जिससे वे सभी पूज्य महाराज श्री के चरणों में नतमस्तक हो अपनी भूल को स्वीकार करने लगे। आ० श्री के स्थान पर कदाचित् अन्य कोई महानुभाव होता तो कलह, लड़ाई-झगड़ा, संक्लेशता संभव थी।

जो वातावरण विद्वेष से परिपूर्ण व कुटिलता से युक्त था, वह पूज्य महाराज श्री की मधुरवाणी से सहज ही सौहार्द पूर्ण आनन्ददायक बन गया। प० पू० आचार्य श्री का वाणी संयम भी अद्‌भुत था, वे प्रत्येक शब्द को सोच-समझ कर ही अपने मुखारविन्द से निकालते थे। श्रोतागण मंत्र मुग्ध हो उनके प्रवचनामृत का कर्णांजली के द्वारा अतृप्त चातक की तरह पान करते थे।

इसी तरह एक बार आचार्य श्री कवलाना में विराजमान थे तब 1946 अगस्त के मध्य में पं० सुमेर चन्द्र जी दिवाकर उनके दर्शनार्थ पहुंचे थे। उस समय एक ब्रह्मचारी बन्धु भी दर्शनार्थ वहां आये थे, वे ब्रह्मचारी, सरल, सहज, भद्र परिणामी एवं मंद कषायी थे, आ० श्री से उन्होंने संयमित व विनम्र शब्दों में कुछ वार्तालाप भी किया। जब पं० सुमेर चंद्र जी दिवाकर ने आचार्य श्री से ब्रह्मचारी के बारे में कहा–"कि लगता है बड़े सज्जन व धर्मात्मा पुरुष हैं।" तब आचार्य महाराज बोले–"मराठी में कहावत है "जैसा बोले तैसा चालै, त्यांची वंदाबी पाउलें" अर्थात् जो जैसा धर्ममय वार्तालाप करता है तथा वैसा ही जीवन में पालन करता है तो उसके चरणों की वन्दना करनी चाहिए।

इसी प्रकार एक पण्डित आ० श्री के पास एक बार दर्शनार्थ आये और आ० श्री के सामने अपने शब्द पाण्डित्य का बखान करने लगे, आगम की लम्बी-चौड़ी चर्चाएं, लच्छेदार प्रवचन व व्याख्यायें करते हुए अपनी प्रशंसा व आत्म श्लाघना कर रहे थे। तब पं० सुमेर चंद जी दिवाकर ने आ० श्री से पूछा कि–"महाराज जी लगता है ये व्यक्ति बहुत बड़े प्रभावशाली व ज्ञानी प्रतीत होते हैं। तब आ० श्री मंद-मंद मुस्कुराते हुए बोले–"बड़ी-बड़ी बातें करने से कोई आदमी बड़ा नहीं बनता जब तक ज्ञान कण्ठ से या शास्त्रों से जीवन में चरितार्थ न हो तब तक उसकी सार्थकता नहीं है। आचरण ही पूज्यता का कारण है। मात्र टेपरिकार्ड की तरह संग्रहीत शब्द ज्ञान और पल्लवग्राही कोरा पाण्डित्य नहीं। धन्य है आ० श्री की सत्यवादिता एवं भाषा समिति व व्यवहारिता से युक्त वाणी। जो जनजन की कल्याणदायी है। ऐसी वाणी के धनी आचार्य श्री को मैं पुनः-पुनः प्रणाम करता हूं।

●●●

मां के अंक में

बारामती में परम पूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज का सन् 1951 का चातुर्मास अत्यन्त आनन्द के साथ सम्पन्न हो रहा था। पर्वराज पर्यूषण के समय पं० सुमेरुचन्द्र जी दिवाकर भी वहां दर्शन व प्रवचनों का लाभ लेने के उद्देश्य से पहुंचे। आचार्य श्री की लोकातिशायी साधना एवं विशिष्टतम धर्म प्रभावना निसंदेह एक मिथ्यादृष्टि भद्र परिणामी को सम्यक्त्व की ओर प्रेरित करने वाली थी।

एक दिन मध्यान्ह काल में आचार्य श्री सामायिक से निवृत्त हुए, और लघुशंका के लिए बाहर गये। वहां वे एक कर्मचारी से वार्तालाप करने लगे। पं० जी ने पूछा—"कि महाराज जी आज आप कुछ व्याकुल व चिंतातुर से दिखाई दे रहे हैं। क्या आज कोई अप्रत्याशित घटना घट गयी या कोई शोक समाचार सुनने में आ गया अथवा स्वास्थ्य आदि की कोई प्रतिकूलता तो नहीं है?" महाराज जी ने कहा—"ऐसी तो कोई बात नहीं है।"

फिर पं० जी ने पूछा—"पूज्यवर! फिर आपकी आकुलता व चिंता का क्या कारण है?"

महाराज जी ने कहा—"यह चिड़िया का बच्चा इस मकान से नीचे गिर गया था और अपनी मां से बिछुड़ कर यहां-वहां भटक रहा था, वह अभी स्वकीय पंखों के द्वारा अच्छी तरह से उड़ने में भी असमर्थ था। इधर-उधर चल रहा था, उड़ने के प्रयास में था अन्य पक्षी भी उसे परेशान कर रहे थे। मैंने सोचा, यदि उसे उसकी मां के पास तक न भिजवाया तो कौआ वगैरह पक्षी या बिल्ली, कुत्ता आदि जानवर उसे मार डालेंगे। इसलिए उस ग्रामीण कर्मचारी से मैं तत्सम्बन्धी वार्ता कर रहा था, कि उस चिड़िया के बच्चे को किसी तरह उसकी मां के पास मकान के ऊपर पहुंचा दो।"

तब तक वह कर्मचारी आया और बोला—"स्वामी जी मैंने आपके कहे अनुसार

नसैनी लाकर उसे (बच्चे को) उसी के घोंसले में रख दिया है। पुनः नहीं गिरे इसलिए अन्य लकड़ियां व घास आदि लगाकर आड़ भी लगा दी है। इस प्रकार की चर्चा करके कर्मचारी बाहर गया तब पं० जी ने पूछा–"आचार्य श्री आपने ऐसा क्यों करवाया?" आचार्य श्री ने कहा–"पं० जी करुणा व अहिंसा हमारी आत्मा का स्वभाव है। अहिंसा, करुणा, दया, रहम, परोपकार, अनुकम्पा आदि शब्द मात्र शास्त्रों में विराजमान करने के लिए नहीं है, इन्हें अपने जीवन में भी लाना चाहिए। अपनी जीभ से तो अहिंसा/करुणा/दया की खूब चर्चा वार्ता करते हैं, किन्तु जीवन से नहीं कर पाते? जीवन में अहिंसा बिना धर्म केवल ढोंग या दिखावा है।"

पं० जी बोले–"आचार्य श्री आप तो इतने बड़े साधु हैं, आप को ये छोटे-छोटे कार्य करना क्या उचित है? आ० श्री बोले दया या अहिंसा करने का कोई भी कार्य छोटा नहीं होता अपितु यह तो सबसे बड़ा काम है तथा धर्म छोटा बड़ा नहीं होता, वह तो आत्मा के स्वभाव में हे। मैंने अपने स्वभाव के अनुरूप कार्य किया है।

धर्म के ह्रासमान होने का सबसे बड़ा कारण यही है कि व्यक्ति अपने आपको बड़ा मान कर धर्म करना छोड़ देता है। यदि व्यक्ति किसी परिस्थिति में धर्म भावना व कार्य को न छोड़े तो आज भी अखिल विश्व में एक मात्र अहिंसा का ही साम्राज्य रहे।"

इतने में कर्मचारी पुनः दौड़ता हुआ आया, बोला–"स्वामी जी उस बच्चे के पास उसकी मां भी आ गई है।" आचार्य श्री ने, पं० जी ने, कर्मचारी ने देखा कि वह चिड़िया अपने बच्चे को खूब स्नेह/प्यार कर रही है। बच्चा भी अपनी आप बीती मां को, कुयीं-कुयीं करके सुना रहा है। दोनों आनन्दित हैं। पं० जी ने कहा–"आप भी देखो बच्चा मां की छत्र छाया में पहुंचकर कितना आनन्दित है।" आचार्य श्री बोले–"यही तो संसार की रीति है कि मां की शरण में ही बच्चे का सही परिपालन होता है व आनन्द की अनुभूति भी होती है। अपनी मां के साथ बिताये क्षण सभी को जीवन पर्यंत याद रहते हैं।"

यदि किसी को सच्ची मां मिल जाये तो कहना ही क्या? हम भी मां जिनवाणी

के अंक में है इसलिए ही तो परम आनन्दित हैं। इस जिनवाणी मां की गोद व शरण सबको प्राप्त हो तथा सभी राग-द्वेष से रहित निर्मल प्रेम भावना व सौहार्द पूर्ण वातावरण में जिएं।

ऐसे करुणाशील थे परम-पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज! अतैव उनके चरणों में हमारे कोटिशः प्रणाम।

धन्य है इन परम पूज्य महापुरुषों को जो प्राणी मात्र की पीड़ा व वेदना को देखकर द्रवीभूत हो जाते हैं। बहुत अधिक संवेदनशील होती है ऐसी भव्य आत्माएं। ये आत्माएं ही महान हैं विशाल हैं, उदार हैं अन्य संसारी आत्मा जो करुणा/दया से शून्य हैं वे कैसे महान कहीं जा सकती है। आज तक व्यक्ति हिंसा के बल पर, दूसरों को धोखा देकर, दूसरों को कष्ट में डालकर, मात्र लम्बे-चौड़े प्रवचन देकर महान बनना चाहता है। भोले प्राणियों को हिंसादि पापों में प्रवृत्त कराके भी महान होना चाहता है। परम पूज्य आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज का जीवन चरित्र उनके अंतरंग के नेत्रों को खोलने के लिए मानो अंजन शलाका है। उनकी वाणी मानों एक प्रकाश किरण है इससे प्राणियों का मिथ्यात्व व अज्ञान दोनों ही उपशम व क्षयोपशम भाव को प्राप्त हो सकते हैं। इस महान आत्मा के बारे में जितना कहा जाए कम है। ऐसे महापुरुष की जीवन शैली को अपने जीवन की शैली बना लें, तभी इस शास्त्र का पढ़ना भी सार्थक होगा।

●●●

एकत्व

एक्कोहं च णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयं एवं चिंतेज्ज संजदो ॥20॥ बा० अ०

अर्थ–मैं अकेला हूँ, मेरा अन्य कोई नहीं है। मैं शुद्ध हूँ, मेरा स्वरूप ज्ञान दर्शनमय है। आत्मा का एक शुद्ध स्वरूप ही उपादेय है, इस प्रकार संयमी को सदा चिन्तन करना चाहिए।

जागृत संत

आचार्य श्री शांति सागर जी महाराज जब ऐलक अवस्था में थे, तब वे गिरनार सिद्धक्षेत्र की वंदना करने पर्वतराज पर गये लौटते में समय अधिक लग जाने से मध्याह्न काल तक आहार के समय तक नहीं आ सके, तब वे द्वितीय वेला में आहार चर्या हेतु निकले। एक गृहस्थ ने पड़गाहन किया—चौके में पहुंचे ही थे कि इनकी दृष्टि सामने दीवार पर टंगी घड़ी पर पड़ी तो सूर्यास्त न होने पर भी बिना आहार लिए वापिस आ गये। जब उनसे आकर पूछा तब उन्होंने बताया कि सूर्यास्त होने में लगभग 2-3 घड़ी प्रमाण काल ही शेष रह गया था। यदि मैं आहार करता तो आहार करते-करते समय अधिक हो जाता और मुझे रात्रि भोजन का दोष लगता। महाव्रती को सूर्योदय के तीन घड़ी बाद से सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व दिन में (सामायिक व स्वाध्याय का समय टाल कर) एक बार ही आहार हेतु निकलना चाहिए, चाहे प्रातःकाल की बेला में निकलें या कारणवश चाहे संध्याकाल की वेला में निकलें। एक बार ही आहार चर्या हेतु निकल सकते हैं, विधि आदि न मिलने पर या अन्य किसी कारण से आहार न मिलने पर द्वितीय बेला में यानि संध्याकाल में आहार हेतु नहीं निकल सकते। व्रती श्रावकों को अपनी आहार चर्या सूर्योदय के दो घड़ी बाद से सूर्यास्त के दो घड़ी पूर्व तक सम्पन्न कर लेनी चाहिए। अव्रती श्रावक को अपनी आहार चर्या से सूर्योदय के एक घड़ी बाद से सूर्यास्त के एक घड़ी पूर्व तक निवृत्त हो जाना चाहिए। किसी भी आचार्य, उपाध्याय, मुनि, आर्यिका, माता जी, ऐलक जी, क्षुल्लक जी, क्षुल्लिका जी, वर्णी जी या भट्टारक जी को दो बार भोजन हेतु निकलने की आज्ञा नहीं है। ये मात्र एक बार ही आहार करते हैं, दो बार नहीं। आ० श्री ने जठाराग्नि तीव्र होने पर भी उस समय ऐलक अवस्था में समय अधिक होने के भय से आहार नहीं किया। धन्य है ऐसे दुर्धर तपस्वी को ऐसे सन्त के चरणों में मेरा शत-शत प्रणाम।

●●●

कंकड़-पत्थर निकालना भी जरूरी

एक बार आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के पास कुछ व्यापारी आये। कहने लगे कि आज पंचमकाल में तो साधु होते ही नहीं। आपको दीक्षा नहीं लेनी चाहिए। सच्चा साधु तो वह है, जो जिनकल्पी, प्रत्यक्ष ज्ञानी व ऋद्धियों से सम्पन्न हो। तीर्थंकर, केवली व ऋद्धिधारी साधु होने चाहिए।

आचार्य श्री ने उनसे पूछा—"आप क्या कार्य करते हो?"

उनने बताया, हम हीरों का व्यापार करते हैं, हमारे यहां पन्ना जिले में हीरे की खान हैं। वहां बहुत हीरे निकलते हैं।

आचार्य श्री ने पूछा—"क्या हीरा ही हीरा निकलते हैं या कुछ और भी निकलता है।"

तब वे महाशय बोले—"मिट्टी व कंकड़ पत्थरों के बीच में एक-दो टुकड़ा हीरा निकलता है। मिट्टी या कंकड़, पत्थर, चचरू निकाले बिना हीरा कैसे निकलेगा?"

आचार्य श्री ने कहा—"भाई इस जैन धर्म की खान से तीर्थंकर केवली व ऋद्धिधारी मुनियों के जैसे हीरे निकलते हैं, हम जैसे कंकड़ पत्थर भी निकलना जरूरी है, अन्यथा वह खान ही बन्द हो जायेगी।"

यह उत्तर सुनकर वे महानुभाव बहुत ही शर्मिन्दा हुए और सहज ही आचार्य श्री के चरणों में नम्रीभूत हो कर क्षमा याचना की।

●●●

ऋतु आये फल होय

परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज जब उत्तर भारत में जिन धर्म की प्रभावना करते हुए विहार कर रहे थे। तब उनकी प्रभावना से सभी जैन-जैनेतर बन्धु उनके चरणों में दर्शन, बंदना, पूजा और भक्ति आदि करने पहुंचते। उनकी साधना उत्कृष्ट थी, जिसे देखकर मिथ्यादृष्टि भी नम्रीभूत हो जाते। एक बार उनके पास दो महाशय पधारे। बिना प्रणाम आदि किये ही खड़े होकर पूछने लगे—आज पंचम काल में तो मुनि होते ही नहीं, फिर तुमने दीक्षा क्यों ले ली?

महाराज श्री ने कहा—"पंचम काल में भी मुनि होते हैं, पूर्व में भी हो चुके हैं, वर्तमान में आपके सामने हैं ही, भविष्य में भी होंगे। महाशय ने पूछा—क्या यह बात आगम में है या आप अपने मन से कह रहे हो?"

महाराज श्री बोले—"यह बात आगम, युक्ति व प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध है इसमें शंका कैसी?"

महाशय—"क्या भावलिंगी मुनि आज हो सकते हैं? यदि हां, तो कहां हैं?"

महाराज श्री—"आज भी हैं। आगे भी होंगे। आपके सामने भी हैं।"

महाशय—"यदि आप भावलिंगी मुनि हैं तो आपके पास अवधि ज्ञान, मनः पर्ययज्ञान, केवलज्ञान या कोई ऋद्धियां क्यों नहीं हैं?"

महाराज श्री—"पंचम काल में जन्मे व्यक्ति के हीन संहनन होने से उसके अभी उत्कृष्ट अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवलज्ञान व ऋद्धियां नहीं हो सकतीं, किन्तु इनसे रहित साधु भी भावलिंगी होते हैं।"

चतुर्थकाल में भी सभी साधुओं के पास में प्रत्यक्ष ज्ञान व ऋद्धियां नहीं थी, उसमें विशिष्ट साधना व सातिशय पुण्य चाहिए।

महाशय–"यदि ये सब नहीं हैं तो कैसे माना जाये कि भावलिंगी साधु आप भी हैं और हो सकते हैं?"

आचार्य श्री ने कहा–"सामने वह पेड़ देखो और बताओ वह किसका पेड़ है?"

महाशय–"वह पेड़ तो आम का है।"

आचार्य श्री–"और अच्छे से देख लो, आम का ही है या कुछ और है।"

महाशय–"नहीं आम का ही है।

आचार्य श्री–"यदि आम का है तो कुछ आम तोड़ कर ले आओ।"

महाशय–"ऋतु आने पर ही तो फल लगेंगे। बिना ऋतु के कैसे फल मिलेंगे?"

आचार्य श्री–"यही तो मैं कह रहा हूं अभी चतुर्थकाल नहीं है। जब चतुर्थकाल की ऋतु आयेगी तब इस दिगम्बर संत रूपी वृक्ष पर ही मनः पर्यय ज्ञान, केवल ज्ञान रूपी आम के फल लगेंगे। जिस प्रकार यह वृक्ष वर्तमान में बिना आम फल के भी वृक्ष है और ऋतु आने पर इसमें फल आवेंगे। इसी प्रकार बिना प्रत्यक्षज्ञान व ऋद्धियों के भी दिगम्बर संत भावलिंगी साधु है।"

इतना सुनते ही वे दोनों महाशय पूज्य आचार्य श्री के चरणों में नम्रीभूत हो गये और उनके मधुर व्यवहार से इतने अधिक प्रभावित हुए कि बाद में इन दोनों ने मुनि दीक्षा लेकर आत्म-कल्याण किया।

यह ठीक ही कहा है–

धीरे-धीरे रे मना! धीरे सब कुछ होय।
माली सींचे सौ घड़ा, ऋतु आये फल होय॥

●●●

सम्यक्त्वी मिथ्यामंत्रों का प्रयोग नहीं करेगा

बारामती में आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज से एक जिज्ञासु ने प्रश्न पूछा–"क्या सम्यक्त्वी (सम्यक दृष्टि) रोग निवारण के लिए या भूत-प्रेत की बाधा से मुक्ति पाने हेतु अथवा अन्य भी किसी आकस्मिक उपसर्ग के निवारणार्थ मिथ्या मंत्रों के द्वारा लाभ प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा या नहीं? तभी पास में बैठे हुए एक विद्वान बोल पड़े–"जिस प्रकार सम्यक्त्वी औषधि लेता है, उसी प्रकार औषधि रूप में मिथ्या मंत्रों से भी लाभ होगा।"

इस पर आचार्य श्री ने कहा–औषधि लेने में बाधा नहीं है, क्योंकि औषधि में सम्यक्त्व है न मिथ्यात्व है, किन्तु मिथ्यादेवों की आराधना युक्त मंत्रों से स्वार्थ सिद्धि करने पर उसकी श्रद्धा में मलिनता आ जायेगी वह पंचपरमेष्ठी वाचक मंत्रों की श्रद्धा को छोड़कर मिथ्यामंत्रों में व धर्म में, मिथ्या क्रियाओं में श्रद्धालु हो जायेगा।

यथार्थता यही है कि कुदेव आदि सम्यक्त्व के अनायतन है, इसलिए सम्यक्दृष्टि को उनसे बचना ही चाहिए, यदि कोई सम्यक्दृष्टि होकर भी किसी भी प्रकार के अनायतनों का सेवन या पोषण करता है, तो वह निःसंदेह अपने सम्यक्त्व रूपी रत्न का स्वयं ही विघात करता है।

परमपूज्य आचार्य श्री की यह महती कृपा रही जो उन्होंने मिथ्यात्व में ग्रसित महानुभावों को अपने प्रवचनों व चर्या से सम्यक्दृष्टि बनाया, उनकी मिथ्यात्व वर्धक क्रियाओं का परित्याग कराया। जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रणीत धर्म ही आत्मा के रोग को जड़, मूल से दूर करने वाला है, जन्म, जरा, मृत्यु जैसे महारोगों का भी विनाशक है, इतना ही नहीं जैन धर्म की निर्मल, शीतल, सुखद छावों में बैठने वाला व्यक्ति समस्त दुःखों से मुक्ति को प्राप्त कर अल्पकाल में ही सर्व कर्म का क्षय कर अक्षय पद को प्राप्त कर लेता है।

ऐसे महा सन्त के चरणों में मेरा निरन्तर नमन-नमन-नमन।

●●●

आगमोक्त चर्या

दिगम्बर सन्त की आहार चर्या संसार के सभी साधु-संन्यासी, सन्त महात्माओं से भिन्न है, वे दीन वृत्ति से याचनापूर्वक भोजन नहीं करते। वे तो सिंह वृत्ति से आहार चर्या हेतु निकलते हैं। श्रावक गण नवधा भक्ति व सप्त गुणों से युक्त होकर जब आहार देते हैं, तभी वे दिगम्बर सन्त अनासक्त रूप से आहार ग्रहण करते हैं। यदि शुद्ध प्रासुक, मर्यादित, आहार विधि अनुसार नहीं मिलता है तो ये समतापूर्वक उपवास धारण करते हैं। ये दिगम्बर जैन सन्त उद्दिष्ट आहार के भी त्यागी होते हैं। प०पू० चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 शांतिसागर जी महाराज महान तपस्वी, साधनाशील प्रभावक सन्त हुए। उनका नाम जैन जगत में प्रसिद्धि को प्राप्त है। जैन समाज के सभी आवाल वृद्ध उन्हें एक भगवान की तरह से उनकी पूजा भक्ति करते हैं। आचार्य शांतिसागर जी महाराज जब ऐनापुर में विराजमान थे, तब एक विचित्र घटना घटी जो इस प्रकार थी।

आचार्य श्री जब आहार चर्या हेतु निकले तो एक श्रावक ने भक्तिपूर्वक उनका पड़गाहन किया। संयोगवश आचार्य श्री की विधि वहां मिल गई। अन्य चौके वालों ने अन्य साधुओं का पड़गाहन किया, उन्हें आहार दिया। आचार्य श्री का पड़गाहन जिस श्रावक ने किया था, उसके यहां शुद्ध भोजन तो बना ही नहीं था, किन्तु फिर भी यह कह दिया था कि आहार जल शुद्ध है भोजनशाला में पधारिये। यह कह तो दिया, किन्तु अब क्या किया जाये, यदि मैं आहार व्यवस्था में चूकता हूं तो महाराज मेरे यहां से चले जायेंगे। किसी सातिशय पुण्य के कारण ही आज मुझे आचार्य श्री शांतिसागर जी जैसे उत्तम पात्र का लाभ हुआ है। अतः मुझे शीघ्र ही यथार्रीति से उनका आहार निर्विघ्न पूर्वक कराना चाहिए। यदि मैं ऐसा नहीं कर पाता हूं तो निःसन्देह निन्दा व तिरस्कार को प्राप्त होऊंगा।

इस प्रकार नाना संकल्प-विकल्पों के जाल में उलझते हुए उसे एक युक्ति सूझी। उसके घर से लगा हुआ एक जैन बन्धु का घर था, उसके यहां चौका लगा हुआ था, वहां आहार के योग्य शुद्ध सामग्री तैयार थी, अतः बड़ी चतुराई से आहार सामग्री वहां से ले आया।

वह इस प्रकार बुद्धिमानी/चतुराई या चालाकी से आहार ले गया कि इस बात का किसी को अहसास भी नहीं हुआ। आचार्य श्री को भी इस बात का जरा-सा भी पता नहीं लगा, अन्यथा वे वहां ठहरते ही क्यों? दूसरे चौके में चले जाते। होनहार की बात ही कहो कि उसकी बुद्धिमानी व सम्यक् पुरुपार्थ से आचार्य श्री का आहार तो वहां हो गया और आ० श्री आहारोपरांत अपने स्थान पर आये। बाद में इस बात की खबर जब उन्हें लगी तो वे अब क्या करते? उनके पास एक ही अस्त्र था, और वह था—प्रायश्चित लेना।

क्योंकि दूसरे के घर से मांगकर लाया हुआ आहार मुनिराज ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिए आचार्य श्री ने उस समय कड़कती धूप में, मध्याह्न काल की सामायिक तपती हुई शिला खड़े होकर की। इतना ही नहीं, इसके उपरान्त उन्होंने आठ दिन के लिए दूध और जल को छोड़कर सब प्रकार के आहार का त्याग कर दिया।

धन्य हैं ऐसे आगमानुसारी महान सन्त के लिए कि जिन्होंने श्रावक के द्वारा हुई एक छोटी-सी भूल का भी कितना वड़ा प्रायश्चित लिया। वे शिथिलाचार के सदैव विरोधी रहे।

उन्होंने कभी भी शिथिलता का न पोषण किया और न ही प्रश्रय दिया। ऐसे आगमोक्त चारित्र के धारक व सुदृढ़ संयम के साधक के चरणों में मैं सदैव प्रणाम करता हूं।

●●●

जो पुण विसय विस्तो अप्पाणं सव्वदो वि संवरणं।
मणहर विसएहिंतो तस्स फुंड संवरो होदि।।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा 8/101

अर्थ—जो मुनि विषयों से विरक्त होकर मन को हरने वाले पाँचों इन्द्रियों के विषयों से अपने का सदा दूर रखता है, उनमें प्रवृत्ति नहीं करता, उसी मुनि के निश्चय से संवर होता है।

दुष्ट व पागल द्वारा उपसर्ग

परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज उस समय कोगनोली की गुफा में ही ध्यान किया करते थे, उन्हें ग्राम नगर व शहर के बाहर, जंगल, उद्यान, पर्वत, गुफा व नदी किनारे ध्यान साधना करने में बहुत आनन्द आता था। एक बार रात्रि के समय कोगनोली की गुफा में ध्यान कर रहे थे, तव तक एक पागल वहां पर आया। उसने पहले तो इनसे भोजन मांगा, भोजन न मिलने पर अनर्गल बकता रहा। ये दिगम्बर सन्त जिनके पास तिलतुप मात्र भी परिग्रह नहीं, कहां से देते ये भोजन? ये अपनी साधना व ध्यान में निमग्न रहे, तव यह पागल उनसे न जाने और क्या-क्या मांगता रहा। जब ये कुछ भी न बोले, तब वह इन्हें मौन देखकर हल्ला (शोर) मचाता रहा। इसके उपरान्त वहां कंकड़ पत्थर व ईंटों का ढेर लगा था वह वहां से कंकड़ पत्थर व ईंट इनकी ओर फेंककर उपद्रव करता रहा। किन्तु इन शान्ति के सागर में रंचमात्र भी अशांति या विकृति की लहर न आयी। वे दृढ़तापूर्वक ध्यान करते रहे। पागल-उपसर्ग करते-करते जब थक गया तो वह वहां से यह कहता हुआ—"यह तो पत्थर जैसा बैठा है, इस पर पत्थर कहां तक फेंकूं" चला गया।

जब आचार्य श्री कोगनोली की गुफा से आहार चर्या हेतु प्रातः काल ग्राम की ओर आते थे, तब मार्ग में एक विप्रराज का भवन पड़ता था। वह विप्र आज तक तो इनसे कुछ नहीं बोला, किन्तु आज न जाने क्यों इनका दिगम्बर रूप देखकर उसका दिमाग कुछ गरम हुआ और क्रोधवश इसने आचार्य श्री से अपशब्द कहते हुए कहा कि अबे नंगे। अब कभी यहां से नहीं निकलना। यदि यहां से निकला तो तेरी खैर नहीं और हमें भी बहुत क्रोध आता है।" आचार्य महाराज अत्यन्त शांतिपूर्वक यहां से निकल गये और यह सोचकर दूसरों को पीड़ा देने से क्या लाभ? अतः अपना मार्ग ही परिवर्तित कर लेना चाहिए। अतः वे दूसरे मार्ग से आने-जाने

लगे। कुछ दिन तक जब आचार्य महाराज वहां से न निकले तो वही विप्र पुनः आचार्य श्री के पास आया और आचार्य श्री की शांति वृत्ति देखकर हतप्रभ हुआ। उसे अपनी मूर्खता व दुष्टता पर पश्चाताप भी हुआ। उसने आचार्य श्री के चरणों में प्रणाम करते हुए क्षमा-याचना की तथा पुनः प्रार्थना की आप पुनः उसी मार्ग से निकलें जिससे पहले निकलते थे। अब मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

आचार्य श्री के मन में कोई कषाय भाव तो था नहीं, उनका तो हृदय स्फटिक मणि के समान था व जल के समान निर्मल था। अतः उन्होंने विप्रराज की विनय युक्त प्रार्थना पर ध्यान देते हुए पुनः उसी मार्ग से जाना प्रारम्भ कर दिया।

धन्य है ऐसी सौम्य, सरल व क्षम्य मूर्ति को जिनके मन में रंचमात्र भी कलुपता का भाव नहीं थ। किसी कवि ने कहा भी है–

सोना, सज्जन, साधुजन टूटे जुड़े सौ बार।
दुर्जन कुम्भ कुम्हार के, एकै धका दरार ॥

और भी कुछ है–

सज्जन पैं सौ-सौ चलें, दुर्जन चलें न एक।
ज्यों जमीन पाषाण की, ठोके ठुके न मेक ॥

यदि आ० श्री के स्थान पर अन्य कोई होता तो पहले तो वह मार्ग ही परिवर्तित नहीं करता कदाचित् मार्ग परिवर्तित कर भी देता तो उसकी विनम्र प्रार्थना सुन विप्रराज के भवन के सामने से कभी नहीं जाता और यदि जाता भी तो उसे अंतरंग से क्षमा न कर पाता। उसे ही डांट-फटकार के भगा देता। किन्तु आचार्य श्री तो शांति के विशाल सागर थे। उनके मन में तो उसके प्रति कषाय भाव था ही नहीं, इसलिए सब बातें स्वीकार कर लीं। कषाय की मंदता में ही प्राणी किसी भी बात को स्वीकार कर पाता है।

धन्य है ऐसी क्षमता व क्षमा की मूर्ति आ० श्री शांतिसागर जी महाराज को। उनके चरणों में मेरा विनम्र नमोस्तु नमोस्तु नमोस्तु....

●●●

जिन वचन ही परमौषधि है

आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज जब दिगम्बर अवस्था में थे, तब वे यथार्थ में समस्त बाह्य परिग्रह का परित्याग कर चुके थे। उनका किसी भी बाह्य वस्तु के प्रति रंचमात्र भी राग या मोह नहीं था। दिगम्बर सन्त प्रकृति की देन है, प्राकृतिक रूप धारी होने से सभी प्राणियों के प्रति समत्व की भावना से परिपूर्ण होता है। परिग्रह ही व्यक्ति में छोटे-बड़े का भेद डाल देता है अहंकार आदि कषायों को उद्दीप्त करता है। निर्ग्रंथ सन्त ही सभी के साथ साम्य भाव रख सकता है। एक बार जब वे ज्वर से पीड़ित हुए तब लगभग एक माह तक उनकी आहार चर्या अच्छी तरह न हो सकी। ज्वर ने उनके शरीर को अत्यन्त क्षीण कर दिया। आहार के लिए जाने की भी सामर्थ्य न रही थी। उस स्थिति में भी आचार्य श्री निरन्तर धर्म ध्यान में ही संलग्न रहते थे। इनके पास आर्त-रौद्र ध्यान तो कभी शरण पा ही नहीं सकते। वे उस समय भी यही कहते थे कि आत्मा को यह रोग नहीं, यह रोग तो शरीर को है। इसके रोग की मुझे कोई परवाह नहीं है। यदि जन्म, जरा, मृत्यु जैसे महान् रोग से मैं बच गया तो यह रोग मेरा कुछ भी अनिप्ट नहीं कर सकता। इससे तो मात्र शरीर ही नष्ट हो सकता है आत्मा नहीं।

जब उनसे औषधि का निवेदन करते तो कहते—मैं तो ज्ञानामृत रूपी टॉनिक, जिन वचन व संयम रूपी औषधि का निरन्तर ही सेवन कर रहा हूं। जब असाता कर्म का विपाक मन्द होगा, तब स्वतः इस रोग की भी उपशांति होगी। कर्म के तीव्र उदय में बाहरी औषधि भी काम नहीं करती। यदि ये रोग औषधि से ही ठीक होते हैं, तब तो डा० के पास जितने भी रोगी जाते हैं, उन्हें तत्काल में ही ठीक हो जाना चाहिए, किन्तु ऐसा होता नहीं। कुछ रोगी ही ठीक होते हैं, कुछ मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं, कितने ही रोगियों का रोग औषधि सेवन करते हुए भी बढ़ता ही जाता है और कई बार ऐसा भी देखा गया कि बिना औषधि के भी

रोग स्वतः ही उपशांत हो जाता है, भावों की विशुद्धि व जिनेन्द्र भगवान की भक्ति, महामंत्र का जाप भी परमौषधि रूप है।

देखिये–श्रीपाल का कुष्टरोग मैनासुन्दरी द्वारा लगाये गंधोदक से ही ठीक हो गया। आ० श्री वादिराज का कुष्टरोग एकीभाव स्तोत्र को पढ़ते ही ठीक हो गया। सनत् कुमार चक्रवर्ती को जब मुनि अवस्था में कुष्ट रोग हुआ जब जिननाम स्मरण करते ही ठीक हो गया। धनंजय कवि का पुत्र जो सर्प के द्वारा डस लिया गया था, मृततुल्य अवस्था में पड़ा था गंधोदक लगाते ही निर्विष हो गया तथा समडोली के ब्रह्मचारी जिनदास जी का सफेद दाग (कुष्टरोग) आ० श्री शांति सागर जी महाराज द्वारा आशीर्वाद प्राप्त करने से व एकीभाव स्तोत्र के पाठ से ही ठीक हो गया। जिन्हें विश्वास न हो जिनधर्म के इन वाक्यों पर उन्हें औषधि सेवन करना चाहिए। किन्तु जब तक असाता कर्म का तीव्र उदाय है, तब तक कितनी भी औपधि सेवन कर लेना, आरोग्य लाभ न हो सकेगा। औषधि भी कर्म के मंदोदय में ही निमित्त बन सकती है।

और आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज उस समय शरीर की शक्ति क्षीण होते हुए भी आहार चर्या के लिए सिंह वृत्ति से ही निकलते थे, वीरचर्या का ही परिपालन करते थे। धन्य है ऐसे समता स्वभावी दुर्द्धर तपस्वी को।

ऐसे सन्त के चरणों में मेरी अंतस की श्रद्धा व भक्ति पूर्वक कोटि-कोटि बार नमोस्तु...नमोस्तु...नमोस्तु...

●●●

मिच्छत्तं अविरमणं, कसाय जोगाय आसवा होंति।
पण-पञ्च चउ-तिय भेदा सम्मं परिकित्तिदा समए ॥47॥ वा.आ.

अर्थ–मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग से आस्रव के कारण हैं, इनके क्रमशः पांच, पांच, चार और तीन भेद जिन शास्त्र में सम्यक् प्रकार से कहे गये हैं।

सर्प विष का निवारण

जैन वाड़ी के कुछ गणमान्य प्रतिष्ठित नागरिक व श्रावकों ने मिलकर आ० श्री शांतिसागर जी महाराज से पूछा–

पूज्य गुरुदेव! आप मिथ्यात्व का त्याग कराते हैं? कुदेवों की पूजा आराधना का भी निपेध करते हैं, तब हमारे भौतिक दुखों का निवारण कैसे होगा?

आचार्य श्री ने कहा–"समीचीन रूप से समीचीन देव, शास्त्र, गुरु व धर्म की आराधना करने से सम्पूर्ण दुखों का अन्त हो जाता है एवं समग्र सुखों की प्राप्ति होती है।"

नागरिक जन–"पूज्यवर! इस गांव में सर्प का भयंकर उपद्रव है सर्प का विष उतारने में एक जैन बन्धु समर्थ है वह जैन बन्धु भी कुदेवों की आराधना करके, मिथ्यादेवों की उपासना व भक्ति करके उन्हीं के मंत्रों से सर्प के विप को दूर करता है। आपने यदि उससे मिथ्यात्व का त्याग करा दिया या कुदेवों की आराधना व मंत्रों का त्याग करा दिया तो हम सभी ग्रामवासियों को बहुत परेशानी उठानी पड़ेगी। कई मौतें भी सम्भव है। अतः हमारा आपसे यही निवेदन है कि उसे छोड़कर भले ही सब ग्रामवासियों को मिथ्यात्व के त्याग का नियम दे दें। हमारा इसमें कोई विरोध नहीं है। फिर आपकी जैसी भी आज्ञा हो हमें शिरोधार्य है।"

आचार्य श्री ने उनसे कहा ठीक है, तुम्हारी समस्या यही है न कि बिना मिथ्यादेवों की आराधना के सर्प विष दूर नहीं होगा। यदि सर्पादि का विषय अन्य प्रकार से दूर हो जाये, तब तो शायद आपको कोई आपत्ति नहीं होगी।

ऐसी स्थिति में कोई भी सामान्य व्यक्ति होता तो वह यही कहता कि ठीक है, एक व्यक्ति को मिथ्यात्वाराधना की व मिथ्यामंत्रों के प्रयोग करने की छूट है, किन्तु आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज ने ऐसा नहीं कहा, क्योंकि उनकी दृष्टि मात्र तार्किक नहीं थी, अपितु समीचीन श्रद्धा से परिपूर्ण थी। तार्किक दृष्टि वाला

व्यक्ति तो लोकोपकार, सार्वजनिक हित, जीव दया, प्राण रक्षा, बहुजन हिताय या धर्मरक्षा, परम्परा के पोषण, वंश वृद्धि, महामारी, प्रलय आदि की समस्या के समाधान की ओट में या अन्य युक्तियों की आड़ लेकर उक्त एक व्यक्ति की मिथ्यात्व की आराधना की छूट की ही प्रार्थना करेगा।

आचार्य श्री ने कहा–"देखो भाई! जैन मंत्रों में भी असाधारण शक्ति व सामर्थ्य है, उनका प्रयोग करने से भी तुम्हारे विघ्न दूर हो जायेंगे। तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है।"

नागरिक जन–"पूज्य गुरुदेव! वे मंत्र कौन-से हैं जिनसे हमारे विघ्न, कष्ट, दुख या विपत्तियां दूर हो जायेंगी।"

आचार्य श्री ने कहा–"मंत्र तो तुम जानते ही हो, फिर भी आश्चर्य है आप पूछ रहे हो। चलो मैं ही तुम्हें बता देता हूं। वह मंत्र है सभी मंत्रों का राजा–महामंत्र परमेष्ठी मंत्र। यह मंत्र मूल मंत्र है। यह अनादि निधन है, इसमें विश्व के सभी मंत्रों का समावेश है, इसमें चौरासी लाख मंत्रों का समावेश भी है।"

नागरिक जन–"पूज्य गुरुदेव! णमोकार मंत्र से यह काम नहीं हो सकता, किन्तु सर्प विष उतारने का मंत्र ही सर्प विष दूर कर सकता है। फोड़ा ठीक करने का मंत्र ही फोड़ा ठीक करेगा, कुत्ता काटने के घाव को ठीक करने का मंत्र अलग है तो फिर सिर दर्द या उदर पीड़ा के मंत्र इनसे पृथक हैं। तब णमोकार मंत्र जो कि उपासना व आराधना का मंत्र है उससे सर्प विष कैसे दूर होगा?"

आचार्य श्री ने कहा–"बन्धुओं! णमोकार मंत्र आपके समस्त कष्ट, दुखों को दूर करने में समर्थ हैं। आवश्यकता है समीचीन श्रद्धा की। श्रद्धा ही समीचीन न हो, सुदृढ़ न हो तो मंत्र क्या करेगा।"

णमोकार मंत्र तो समग्र पापों का नाश करने वाला है, सभी मंगलों में पहला मंगल है, आप सभी लोग नित्य पढ़ते भी हैं।

ऐसो पंच णमोकारो सव्व पावप्पणासणो।
मंगलाणं च सव्वेसिं पढमं होइ मंगलम् ॥

अर्थात् यह पंच नमस्कार मंत्र (अन्य नाम–मूलमंत्र, अपराजित मंत्र, मंत्रराज, अनादि निधन मंत्र, परमेष्ठी मंत्र इत्यादि) सर्व पापों का नाश करने वाला है तथा

विश्व के सभी मंगलों में यह प्रथम मंगल है।

नागरिक जन–पूज्यवर आपका कहना ठीक है। यदि इससे हमारा काम सिद्ध नहीं हुआ तो फिर हम क्या करेंगे।

तब आचार्य श्री ने कहा–ठीक है यदि आपको कोई विकल्प हो रहा है तो अभी से मात्र दो माह का त्याग करके देखलो और इस मंत्र से आपका काम सिद्ध नहीं हो, तब आपको कोई बन्धन नहीं है।

तब वहां एक व्यक्ति दौड़ता हुआ आया पूज्यवर! मेरे बैल को सर्प ने डस लिया है। अब मैं क्या करूं? तभी वह बन्धु जो सर्प का विष उतारता था। परमपूज्य आचार्य श्री के चरणों में नमस्कार कर उनको गुरु मानकर, णमोकार मन्त्र का स्मरण करता हुआ वहां पहुंचा और णमोकार मंत्र पढ़कर विप को उतार दिया। अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में वह बैल सर्प विष की व्यथा से पूर्णतः मुक्त हो गया। तब वह आचार्य श्री के पास आकर बैठा। पूज्यवर अब आप मुझे मिथ्यात्व त्याग का नियम दे दो। क्योंकि आपके द्वारा दिये गये मंत्र का सफल प्रयोग मैंने देख लिया है, तब सभी नागरिक जनों ने भी मिथ्यात्व का त्याग कर दिया तथा कुदेवों की आराधना का भी जीवन पर्यन्त के लिये त्याग कर दिया।

धन्य है ऐसे दुर्धर तपस्वी को जिनकी वाणी संसारी प्राणियों के मिथ्यात्व, अज्ञान व असंयम के अंधकार को दूर करने में समर्थ है, मैं श्रद्धापूर्वक उनका निज हृदयाम्बुज में स्मरण करता हूं।

●●●

आस्रव

जम्मसमुद्दे बहु दोसवीचिये दुक्खजलचराकिण्णे।
जीवस्स परिब्भमणं कम्मासव कारणं होदि ॥10/56॥ वा०अ०

अर्थ–अनेक दोष रूप तरंगों से युक्त, दुख रूपी जलचर जीवों से व्याप्त, जन्म रूपी समुद्र में जीव का परिभ्रमण कर्मास्रव के कारण होता है।

उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा का सही स्वरूप

जिनागम में धर्म के दो मुख्य भेद कहे हैं–1. मुनि धर्म, 2. श्रावक धर्म।

प्रथम धर्म–पांच पापों के पूर्णतः त्याग रूप हैं इसमें 28 मूलगुणों का व 34 उत्तरगुणों का पालन किया जाता है वे मुनिराज विषय, कषाय, आरम्भ, परिग्रहादि पापों के पूर्णतः त्यागी होते हैं एवं सम्यग्ज्ञान, ध्यान तप तथा पंचाचारों के परिपालन में ही संलग्न रहते हैं।

द्वितीय धर्म–श्रावक धर्म। श्रावक का अर्थ है जो श्रद्धालु विवेक पूर्वक अपनी धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करें अथवा जो श्रद्धापूर्वक सच्चे देवशास्त्र गुरु की वाणी को सुनें। इस श्रावक की धर्म पालन की क्रमशः ग्यारह श्रेणियां होती हैं, जिन्हें प्रतिमा कहते हैं।

प्रतिमा का अर्थ है–संयम साधना के मार्ग में धीरे-धीरे क्रमशः वृद्धिंगत होना। संसार शरीर व भोगों से वैरागी तथा धर्म-धर्मात्मा व धर्म के फलों में अनुरागी होते हुए अपने व्रत, नियम, संयम में वृद्धि करना। अथवा प्रतिमा की परिभाषा निम्न प्रकार भी है–

संयम अंश जग्यो जहां, भोग अरुचि परिणाम।
उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताको नाम ॥

1. **प्रथम प्रतिमा है–''दर्शन प्रतिमा''**–इसका अर्थ है सम्यक दर्शन का निशंकितादि आठ अंगों सहित व शंकादि पच्चीस दोषों से रहित हो पालन करना तथा अन्याय, अनीति एवं अभक्ष्य का त्याग करना। सप्त व्यसन का त्याग व अष्ट मूलगुणों का पालन करना। अहिंसाणुव्रतादि बारह व्रतों का अभ्यास रूप में पालन करना।

2. **द्वितीय प्रतिमा है–''व्रत प्रतिमा''**–पांच अणुव्रत–अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य एवं परिग्रह परिमाण। तीन गुण व्रत–दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थ दण्ड व्रत एवं चार शिक्षा व्रत (सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण व अतिथि संविभाग) का पालन करना। यह द्वितीय व्रत प्रतिमा का स्वरूप है।

3. तृतीय प्रतिमा–''सामायिक प्रतिमा''–इसका संक्षिप्त अर्थ यही है कि दिन में तीन बार (प्रातः मध्याह्न व शाम संधिकाल में) नियत काल तक पांचों पापों का परित्याग करके सामायिक करना अर्थात् आत्मोन्मुख होना, अपने परिणामों में समता धारण करना। यह तृतीय प्रतिमा का स्वरूप है।

4. चतुर्थ प्रतिमा है–''प्रोषधोपवास प्रतिमा''–इसका आशय है कि प्रत्येक माह की अष्टमी व चतुर्दशी को सोलह प्रहर का उपवास करना अर्थात् सप्तमी व नवमी को एकाशन तथा अष्टमी को उपवास या त्रयोदशी व पूर्णिमा अथवा अमावस्या को एकाशन तथा चर्तुदशी को उपवास। यह प्रोषधोपवास की उत्तम विधि है। मध्यम विधि है कि सप्तमी व नवमी को दो बार भोजन व अष्टमी को उपवास तथा त्रयोदशी व अमावस्या अथवा पूर्णिमा को दो बार भोजन चतुर्दशी को उपवास अर्थात् आठ प्रहर का उपवास करना।

जघन्य विधि है–सप्तमी, अष्टमी व नवमी तथा त्रयोदशी, चतुर्दशी और अमावस्या अथवा पूर्णिमा तीनों दिन एकाशन। इतनी भी शक्ति न हो तो कम से कम अष्टमी व चतुर्दशी को एकाशन करना, शाम को भोजन आदि ग्रहण नहीं करना। ये चतुर्थ प्रतिमा का स्वरूप है।

5. **पांचवीं प्रतिमा है–''सचित्त त्याग प्रतिमा''**–इसका अर्थ है कि सचित्त का भक्षण नहीं करना। सचित्त का अर्थ है–योनिभूत, जिसमें जीव राशि के उत्पन्न होने की सम्भावना हो ऐसी बीजभूत समग्र वस्तु (अखण्ड वस्तु) का भक्षण नहीं करना। फल, सब्जी या अनाज आदि साबुत व कच्चा, बिना नमक आदि मिलाकर खाना, अपितु उन्हें अचित्त करके छिन्न-भिन्न करके, सुखा करके तथा यंत्रादि से पेलकर या लवणादि को मिलाकर भक्षण करना। पानी भी गर्म करकेया उबाल करके अथवा प्रासुक करके ही पीना। स्नानादि में भी मात्र छना हुआ पानी लेना है या ले सकता है।

6. छठी प्रतिमा है–''रात्रि भुक्ति त्याग प्रतिमा''–इसका आशय यह है कि रात्री को भोजन करने का कृत, कारित अनुमोदना से त्याग करना, वह भी त्रैयोग पूर्वक रात्रि में स्वयं भोजन न करना, न कराना और न ही करने वालों की किसी भी योग से अनुमोदन करना। इस प्रतिमा का दूसरा नाम भी शास्त्रों में उल्लिखित है वह है दिवा मैथुन त्याग प्रतिमा–इसका अर्थ है–दिन में मन से, वचन से, काय

से अब्रह्म का त्याग करना अर्थात् अब्रह्म का सेवन नहीं करना न कराना और न ही किसी योग से अनुमोदना करना।

7. सप्तम प्रतिमा है–''ब्रह्मचर्य प्रतिमा''–इसका आशय है मन से, वचन से व काय से बह्मचर्य व्रत का पालन करना। अपनी स्वकीय परिणीता स्त्री को भी मां, बहन या पुत्री के समान मानना। यदि आयु में बड़ी है तो मां के समान, आयु समान है तो बहन के समान, आयु छोटी है, पुत्री के समान माननां इस प्रतिमाधारी श्रावक को ब्रह्मचारी कहा जाता है।

8. अष्टम प्रतिमा है–''आरम्भ त्याग प्रतिमा''–इसका अर्थ है–कृपि, व्यापार, नौकरी आदि नहीं करना और न ही पानी भरना, कपड़े धोना, झाड़ू लगाना, मकानादि की सफाई करना, लिपाई-पुताई करना इत्यादि आरम्भ के कार्य नहीं करना। यह श्रावक अपने लिये व अतिथि के लिये कदाचित रसोई तैयार कर सकता है अव्रती जनों के लिये नहीं। अपने वस्त्रादि विवेक पूर्वक धो सकता है।

9. नवीं प्रतिमा है–''परिग्रह त्याग प्रतिमा''–इसका आशय है यथा सम्भव सभी वहिरंग परिग्रह का त्याग करना। अत्यन्त आवश्यक 2-3 जोड़ी वस्त्र, दो-चार बर्तन व अत्यल्प धन रखना तथा उसमें भी मूर्च्छा आसक्ति न रखना।

10. दसवीं प्रतिमा है–''अनुमति त्याग प्रतिमा''–इसका आशय है कि अपने पुत्र मित्र व कुटुम्वी जनों को या स्वजनों, परिजनों व पुरजनों को कृपि आदि की आरम्भ की क्रियाओं के बारे में व विवाह आदि की क्रियाओं के बारे में व कपाय, पोपण तथा इन्द्रियों के विपयों में प्रवृत्ति स्वरूप वासनाओं की पूर्ति के सम्बन्ध में अनुमति नहीं देना। इस प्रतिमाधारी श्रावक को 'वर्णी' भी कहा जाता है।

11. ग्यारहवीं प्रतिमा है–''उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा''–इसका आशय है, अपने उद्देश्य से बने हुए भोजन को ग्रहण नहीं करना। दसवीं प्रतिमाधारी श्रावक कदाचित् घर में रह सकता है, किन्तु ग्यारहवीं प्रतिमाधारी तो नियम से गृह त्यागी होता ही है, इसके पूर्व भी गृह त्याग किया जा सकता है। इस प्रतिमाधारी के दो भेद हैं–1. क्षुल्लक, 2. ऐलक।

(i) प्रथम भेद जो क्षुल्लक जी का है–उनके पास केवल दो कोपीन (लंगोटी) व दो चादर तथा आहार ग्रहण करने हेतु एक मात्र पात्र होता है। इसके साथ-साथ जीव रक्षा हेतु मयूर पंखी पिच्छिका व शुद्धि हेतु कमण्डल भी रखते हैं। अध्ययन/स्वाध्याय

के लिये शास्त्र भी रखते हैं। ये अपने उद्देश्य से बने हुए भोजन के परित्यागी होते हैं। कदाचित् उद्दिष्ट भोजन कर भी लें तो उसका प्रायश्चित अपने गुरु से ग्रहण करते हैं।

(ii) द्वितीय भेद–ऐल्लक जी ये उत्कृष्टतम श्रावक हैं ये क्षुल्लक जी से भी आगे हैं, केवल दो कोपीन (लंगोटी) रखते हैं–एक पहनने की और दूसरी दूसरे दिन के लिये धोकर डाल देने के लिये। उस एक कोपीन को भी निरन्तर नहीं पहनते। ध्यान, सामायिक व रात्री में अपनी मर्यादा व लोक व्यवहारानुरूप या गुरु आज्ञा के अनुसार निकाल भी देते हैं। यह मुनि दीक्षा के पूर्वाभ्यास की भूमिका है। अपने बालों का अपने हाथों से केश लोच करते हैं, जीवन-पर्यन्त पैदल विहार करते हैं एवं कर पात्र में ही बैठकर आहार करते हैं।

परम पूज्य आचार्य चक्रवर्ती श्री शांतिसागर श्री महाराज जब क्षुल्लक अवस्था में थे, तब वे ग्यारह प्रतिमाओं का निर्दोष पालन करते थे। उस समय मुनिराज व क्षुल्लक, ऐलक सभी नियत स्थान पर निमन्त्रण से ही आहार को जाते थे। किन्तु इनकी साधु प्रवृत्ति निर्दोष थी। आचार्य शांतिसागर जी ने इस रूढ़ि का विरोध किया और श्रावकों को क्षुल्लक, ऐल्लक एवं मुनियों की चर्या के बारे में समझाया तथा उद्दिष्ट त्याग का अर्थ बताया कि अपने उद्देश्य से बना हुआ आहार ग्रहण नहीं करना चाहिये तब उस समय के श्रावक व साधुओं ने इसका माखौल उड़ाया और अब तो पंचम काल है अब तो सब चलता है। चतुर्थ काल में ऐसा सम्भव था आज नहीं। तब वातावरण भी ऐसा ही था। किन्तु क्षुल्लक शांतिसागर जी ने निर्दोष चर्या का पालन किया। यदि श्रावक से विधिपूर्वक पड़गाहन करके आहार नहीं मिला तो उपवास कर लेते थे और उनके इस सम्बन्ध में एक ही नहीं, अपितु पांच-पांच, सात-सात तक उपवास भी हुए। किन्तु आगम के अनुसार अपनी चर्या को नहीं छोड़ा। धन्य है ऐसे आगमनुरागी सन्त जिसने उस विषम परिस्थिति में भी नियम का पालन किया। आजकल तो श्रावकों में शिथिलता आ रही है व आ चुकी है। आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज आरम्भ से ही शिथिलता विरोधी थे तथा आगम पन्थ के संवाहक रहे, उन्होंने अपनी वृत्ति आगमानुसार ही की। ऐसी महान आत्मा के गुणों को मैं नित्य निज अन्तर में श्रद्धा, भक्ति व समर्पण की भावना से स्मरण करता हूं।

●●●

मकोड़े का उपसर्ग

एक बार कोन्नूर के जंगल में आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज धूप में खड़े होकर साधना कर रहे थे। तभी एक बड़ा-सा मकोड़ा आया और उनके पुरुष चिन्ह से चिपटकर खून चूसने लगा। वह मकोड़ा पुरुष चिन्ह (लिंग) को अपने डंक या मुंह से काटता रहा। जिससे उस पुरुष चिन्ह से रक्त की धारा वह निकली और आचार्य श्री डेढ़ घंटे (90 मिनट) तक ध्यान करते रहे। जब वह स्वतः ही चला गया तब वे ध्यान पूर्ण करके उठे। यह घटना नेमण्णा आदि ब्रह्मचारियों ने अपनी आंखों से प्रत्यक्ष देखी। आचार्य श्री की ऐसी क्षमता देख वे ब्रह्मचारी नेमण्णा आचार्य श्री द्वारा दीक्षित होकर महातपस्वी आचार्य नेमिसागर के नाम से प्रसिद्ध हुए। ऐसे कठोर तप साधक, उन युगल तपस्वियों के चरणों में मेरे अन्तस से अनन्तशः प्रणाम...।

शेडवाल में सर्प बाधा

जब आचार्य श्री शेडवाल में थे, वहां वे रात में किसी वृक्ष के समीप पाटे पर बैठकर ध्यान कर रहे थे। तभी एक श्यामवर्णी नागराज आया और उनके पाटे के नीचे आकर बैठ गया। वह बार-बार फन उठाकर फुंफकार मारता, फिर डसने का प्रयास करता पुनः शांत हो जाता इस प्रकर उसने रात्रि भर उपसर्ग किया। आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज भी निश्चिंत हो रात्रि भर वहीं ध्यान करते रहे। धन्य है ऐसे निर्भीक एकत्व विभक्त आत्मा के अनुभोक्ता आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज को। मैं उनके चरणों में उन जैसी समता व निर्भीकता पाने हेतु विनम्र प्रणाम करता हूं।

●●●

पिपी लिकाओं का उपद्रव

एक बार परमपूज्य आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज जंगल के किसी मंदिर में ध्यान कर रहे थे। तभी वहां पर मंदिर का पुजारी आया और श्री जी की आरती के लिये दीपक जलाया, दीपक में आरती के समय घृत (घी) डालते समय कुछ बूंद घृत की वहां भूमि में गिर गयी। वह पुजारी तो आरती करके अपने स्थान पर चला गया। आचार्य श्री वहां ध्यान करते रहे घृत की गंध से वहां बहुत-सी चींटियां आने लगीं और देखते ही देखते वहां चींटियों का झुण्ड हो गया। वे चींटियां आचार्य श्री के शरीर पर चढ़कर उन्हें काटने लगीं। पूरा शरीर काटने से लाल हो गया। कई जगह से खून बहने लगा, किन्तु आचार्य श्री ध्यान से विचलित नहीं हुए। तभी रात्रि में वहां के पुजारी को स्वप्न आया कि आचार्य श्री पर चींटियां उपसर्ग कर रही हैं। वह पुजारी उठा, किन्तु वहां शेर भी रहता था अतः उसके डर से वह मंदिर तक भी नहीं गया। प्रातःकाल जाकर देखातो आचार्य श्री के शरीर से खून बह रहा था। शरीर पूरा सूज गया था। चींटियों ने शरीर का कोई भी अंग बिना काटे नहीं छोड़ा है और आचार्य श्री ने ध्यान नहीं छोड़ा। आचार्य श्री की वह अवस्था देख सभी श्रावकों की आंखों से अश्रुधारा बह निकली। श्रावकों ने कुछ दूर शक्कर डालकर कपड़े से चींटियों को अलग किया तब आचार्य श्री ने ध्यान समाप्त कर अपनी अन्य क्रियाओं में प्रवृत्ति की।

धन्य है ऐसे समता, स्वभावी, सागररूप, गम्भीर व मेरूवत् आगम्य साहसी व धीर वीर मुनिराज को। मैं ऐसे संतराज के चरणों में सिद्ध श्रुत आचार्य भक्ति सहित प्रणाम करता हूं।

●●●

मूक को वाणी मिली

कोल्हापुर के नीमसिर ग्राम में एक पैंतीस (35) वर्ष का युवक था, उसे सभी जन अण्णप्पा दाड़ी वाले के नाम से जानते थे। वह जिन भक्ति व शास्त्र स्वाध्याय में भी रूचि रखता था। अकस्मात् उसकी आवाज चली गई। वे अब बोलते तो थे किन्तु मुंह से आवाज नहीं निकलती थी। लगभग एक वर्प से भी अधिक समय हो गया, उन्होंने लज्जावश बाहर आना-जाना भी बन्द कर दिया और घर में ही संक्लेशता के साथ दुखी मन से ही समय व्यतीत कर रहे थे।

परम पूज्य आचार्य शांतिसागर जी महाराज से भी उनका परिचय था। कुछ सज्जन महानुभाव उसके पास आये और आचार्य श्री के पास चलने को कहा, तो उन्होंने मना कर दिया, किन्तु उनके हितैपी उन्हें आचार्य श्री के पास ले गये। आचार्य श्री ने उनसे कहा बोलो–बोलो...आग्रहपूर्वक कहा। तब भी वे नहीं बोले। आचार्य श्री ने आशीर्वाद देते हुए कहा बोलो–"णमो अरिहंताणं।" संयोग वश आचार्य श्री का आशीर्वाद मिलते ही ज्यों ही उनने बोलना प्रारम्भ किया, उनके मुंह से स्पष्ट शब्द निकले "णमो अरिहंताणं।" इस घटना को देखकर सभी दंग रह गये और वे अपने घर लौट आये। घर आते ही उनकी आवाज पुनः चली गई, तब उनको आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज के दर्शनार्थ पुनः ले गये, वहां पहुंचकर उसने आचार्य श्री का ज्यों ही आशीर्वाद प्राप्त किया आवाज पुनः आ गई और वे 15-20 दिन वहीं आचार्य श्री की सेवा में रहे घर आने पर भी उनकी आवाज फिर कभी नहीं गई।

धन्य है ऐसी सुभद्र आत्मा को जिनके आशीर्वाद से मूक भी बोल उठा। अनादि मिथ्यादृष्टि भी इनके आशीर्वाद से सम्यक्त्व की भाषा व भाव-साधना भी सीख सकता है तब बाहर की आवाज मिल जाये तो कोई आश्चर्य नहीं। ऐसे सन्त को मैं सतत् भक्तिपूर्वक नमोस्तु प्रणाम करता हूं।

●●●

घोर उपसर्ग विजेता

परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 शांतिसागर जी महाराज (ससंघ) का सन् 1923 वि० स० 1980 का चातुर्मास कोन्नूर में विशेष धर्म प्रभावना पूर्वक सम्पन्न हुआ। चातुर्मास में आचार्य श्री के दर्शनार्थ दूर-दूर से नित्य श्रावकों का (आने वालों का) क्रम चक्र चलता ही रहता था। इससे आचार्य श्री की ध्यान-साधना में व्यवधान होता था। अतैव आचार्य श्री मध्यान्ह की सामायिक व ध्यान साधना हेतु पास की पहाड़ी में बनी हुई गुफाओं में चले जाते थे। एक दिन आचार्य श्री गुफा में सामायिक कर रहे थे। पास में ही झाड़ी थी। उसमें सर्प, विच्छु आदि की भी सम्भावना थी। किन्तु आचार्य श्री उनकी कुछ भी परवाह किये विना ही ध्यान में संलग्न हुए। तभी गुरुभक्तों का एक समूह आचार्य श्री के दर्शनार्थ पहाड़ी पर पहुंचा और वे गुफाओं में आचार्य श्री को खोजने लगे। तभी एक सर्प झाड़ी में से निकला और आचार्य श्री के समीप गुफा में पहुंच गया। वह सर्प गुफा में जाते हुए लोगों ने देखा। कुछ देर बाद वह वापिस निकलने को हुआ तब तक किसी भक्त ने आचार्य श्री ध्यान साधना में बाधा न हो, एक नारियल गुफा के द्वार पर ही चढ़ा दिया उसकी आहट पाकर सर्प पुनः गुफा में लौट गया और आचार्य श्री की ध्यान मुद्रा को पत्थर का मानकर शरीर पर चढ़ गया और ध्यान में विघ्न करने लगा। किन्तु उस सर्प का आचार्य श्री पर कोई असर नहीं हुआ। जैसे चन्दन के वृक्ष से सर्प लिपटते हैं, वैसे ही सर्प उनसे बहुत देर तक लिपटा रहा। आचार्य श्री शरीर के प्रति अचल रह आये। धन्य है ऐसी त्याग-तपस्या की मूर्ति को, धन्य है ऐसे निश्चल त्यागी को।

इस प्रकार का सर्प का उपसर्ग उनके ऊपर एक बार नहीं कई बार हुआ। एक बार उसी कोन्नूर की गुफा में आचार्य श्री पर एक उड़ने वाले सर्प ने उपसर्ग किया—वह सर्प आचार्य श्री को ध्यान मुद्रा में देख उनके ऊपर ही मंडराता रहा, उनके शरीर को कई जगह पर घायल भी कर दिया। लोग उसे भगाने का प्रयत्नकरते तो वह सर्प महाराज की जंघाओं के बीच में ही घुस जाता। इस प्रकार यह सर्प

लगभग 3 घन्टे तक आचार्य श्री पर उपसर्ग करता रहा। किन्तु आचार्य श्री उस उपसर्ग से न तो बाहर में ही रंचमात्र हिले और न ही अंतरंग के परिणामों में रंचमात्र भी कलुपता आई। यह घटना कई लोगों ने अपनी आंखों से प्रत्यक्ष में देखी थी। आचार्य श्री को विपत्ति के समय में भी कभी घबराते हुए नहीं देखा और न ही जय-जयकार व विशेष प्रभावना व साता वेदनीय के उदय में हर्पातिरेक युक्त ही देखा।

वर्तमान काल में ऐसा भेद-विज्ञानी आध्यात्मिक युग पुरुष, वज्रवत् दृढ़तावाला, मेरूवत् अटल ध्यानी असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। मिथ्यादृष्टि के लिये तो यह कथन मात्र कल्पना का ही विपय हो सकता है। सम्यक् दृष्टि धर्मात्मा व साधक ही उस दृश्य की विशेष अनुभूति व दृढ़ता का अनुमान लगा सकता है। इस प्रकार आचार्य श्री ने सर्प, बिच्छु, सिंह, व्याघ्र, नेवला व छिपकली कृत उपसर्गों को कई बार सहन किया और वह निर्भीक रह अपनी समता की परीक्षा देते रहे।

धन्य है ऐसे महिमा मण्डित कलिकाल के जिनकल्पी वत् घोर तपस्वी को। इन साधक के चरणों में मैं त्रियोग से अपने परिणामों की विशुद्धि व ऐसी दृढ़ता पाने हेतु प्रणाम करता हूं।

●●●

अहमिक्को खलु सुद्धो दंसण णाण मइयो सयारूवी
ण वि अत्थ मज्झ किंचवि अण्ण परमाणुमेत्तंपि।।

अर्थ–मैं एक स्वभावी हूँ, ज्ञान, दर्शन से युक्त, सदा अरूपी हूँ, मेरे अन्दर अन्य परमाणु मात्र भी विद्यमान नहीं है।

❄ ❄ ❄

अण्णं इमं सरीरादिगं पि जं होज्ज बाहिरं दव्वं।
णाणं दंसणमादा, एवं चिंतहि अण्णत्तं ॥23॥ वा. आ.

अर्थ–ये शरीर आदि भी आत्मा से अन्य हैं, क्योंकि ये बाह्य द्रव्य हैं, आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है, इस प्रकार अन्यत्व भावना का चिन्तवन करो।

फिर भी शीतलता

मुनि दीक्षा अंगीकार करना कोई बच्चों का खेल नहीं हैं, सुखाभिलापी व्यक्ति के लिए तो इस साधना की कल्पना भी भयभीत करने वाली होती है। मुनि जीवन का आशय है, उपसर्गों व परीषहों का खुला आमंत्रण। जीवन में न जाने किस मोड़ पर कौन-सी घटना घट जाये। एक बार आचार्य श्री शांतिसागर जी महाराज आहार चर्या हेतु निकले। एक श्रावक के यहां विधि मिल गई, वह नवधा भक्ति से युक्त हो अपने चौके में ले गया। पाद-प्रक्षालन, पूजन व नमस्कारादि के उपरान्त जैसे ही उन्होंने आहार करना प्रारम्भ किया, उस श्रावक के यहां गर्म दूध रखा था, महाराज श्री उस समय मात्र दूध और चावल ही आहार में लेते थे। श्रावक भक्ति में इतना भाव-विभोर हो गया कि उसका विवेक ही नष्ट-सा हो गया। उसने कपड़े से दूध वाले बर्तन को पकड़ा और महाराज श्री की अंजुलि में उंड़ेल दिया। दूध उबलता हुआ था, दूध के हाथ में गिरते ही उष्णता की असाध्य पीड़ा के कारण वे मूर्च्छा के अधीन हो तत्काल भूतल पर गिर पड़े सब लोग घबड़ा गये। ब्र० नेमण्णा (जोवाद में आ० नेमिसागर बने) ने यह सोच कर "कि कहीं यह महाराज श्री के जीवन का अंतिम क्षण न हो" जोर-जोर से उनके कानों में पंच नमस्कार मंत्र सुनाने लगे। कुछ समय बाद महाराज श्री की मूर्च्छा दूर हुई, उन्होंने आंखें खोलीं, पूर्व स्थिति का ज्ञान हो गया, किन्तु उनके चेहरे पर रंचमात्र भी रोषादि का भाव नहीं था, अपितु समता भाव धारण किये रहे तथा अंतरंग की शीतलता के सामने बाहर भी उष्णता की शीतल हो गई, इसलिए गर्म दूध से भी आचार्य श्री गर्म (कुपित) नहीं हुए, वह दूध ही शीतल हो गया।

धन्य है, ऐसी समता मूर्ति, महान तपोनिधि को। इन महामुनिराज के चरणों में उन जैसी समता पाने को मैं प्रणाम करता हूं।

●●●

खड्ग की धार

अगिनि आंच सहना सुगम, सुगम खड्ग की धार।
प्रेम-निभावन एक रस, महा कठिन ब्योहार ॥ –कबीर

दिगम्बर जैन मुनि बनना कोई खेल नहीं है, बाबा! तलवार की धार पर चलना है। दिगम्बर जैन साधु स्वेच्छा से जो यातनायें सहता है, उनका सहस्रांश भी गरीब से गरीब, दुखी से दुःखी गृहस्थ तक को झेलना नहीं पड़ता। इसलिए यह न सोचो कि हम लोग सांसारिक कष्टों का सामना करने में भीरुता के कारण साधु बने हुए हैं सच्ची, हार्दिक वैराग्य-वृत्ति न होती, तो दिगम्बर जैन साधु बनने का साहस कोई भी नहीं कर सकता।

आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज के दृढ़ स्वर में करुणापूर्ण ममता थी, समझाने की भावना थी, परन्तु कटुता या क्रोध का तो लेशमात्र भी नहीं था। वह उन्हें उसी प्रकार समझा रहे थे, जैसे कोई दयावान गुरु अपने अनजान, किन्तु प्रिय शिष्य को समझाता है अथवा जैसे कोई पिता अपने मतिभ्रष्ट पुत्र को वात्सल्यपूर्ण उपदेश देता है।

आचार्य श्री की इस उदारता और इस क्षमा-भावना पर वे गद्‌गद हो उठे।

वैसे उनके प्रश्न पर आचार्य महाराज क्रुद्ध हो सकते थे, यद्यपि उन्होंने अत्यन्त सरल भाव से प्रश्न किया था, तो भी, उसमें उद्दण्डता की ध्वनि निकल सकती थी।

मेरा प्रश्न

उनका प्रश्न यह था–"कुछ लोगों का यह विश्वास है कि यति लोग, जीवन की कठिनतम वास्तविकताओं का सामना करने से डरते हैं और इसी कारण संन्यास ग्रहण कर जीवन से विमुख हो जाते हैं। इस पर आपका क्या विचार है?"

महाराज के उत्तर का विस्तृत विवरण देने से पहले मुझे यह स्पष्ट कर देना चाहिए कि यह प्रश्न उन्होंने आचार्य श्री जैसे महातपस्वी से किस उद्देश्य से किया

था। आजकल के 'शिक्षित' समुदाय पर मनोविज्ञान की धुन सवार है। हर बात को शिक्षित लोग मनोविज्ञान की कसौटी पर कसकर परखना चाहते हैं। कुछ विख्यात मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार, जो लोग रोजमर्रा के जीवन की झंझटों या मुसीबतों का सामना नहीं कर पाते या जो जीवन से निराश हो जाते हैं, वे ही विरक्तिमार्ग की शरण लेते हैं।

इस सिद्धान्त को भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध करना कठिन तो नहीं था। फिर भी उन्होंने चाहा कि आचार्य श्री जैसे वैराग्य-शिखर पर आसीन भव्यात्मा से इस शंका का समाधान कराना अत्यधिक लोकोपयोगी होगा। इसी कारण उन्होंने उपरोक्त प्रश्न किया था।

उनको डर था कि आचार्य श्री कहीं नाराज न हो जायें, परन्तु उनका यह भय निराधार था।

आचार्य महाराज ने अत्यन्त सहिष्णुता के साथ, बड़े ध्यान से उनका प्रश्न सुना, उसका आशय उनको सुनाया और मधुर स्वर में पूछा, "यही है न तुम्हारा मतलब?"

उन्होंने कहा, "हां, महाराज।"

आचार्य श्री बोले, "मैं अन्य साधुओं के सम्बन्ध में तो नहीं कह सकता, पर दिगम्बर जैन साधु संसार की कठिनाइयों से बचने के लिए संन्यास ग्रहण नहीं करते, बल्कि संसार से—भव से डरकर साधु बनते हैं। आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, इन चारों दुखों को मिटाने के लिए त्यागी जीवन अपनाते हैं। नारकीय यातना से बचने और जीवन-मरण के चक्र से मुक्त होने के लिए मुनि-व्रत धारण करते हैं। वे कर्मों का नाश करने के लिए अपने को तपाते हैं, जीवन की कठिनाइयों से बचने के लिए नहीं।"

तीर्थंकरों का उदाहरण

आचार्य श्री की वाणी नदी की भांति प्रवाहित हो रही थी। इस प्रवाह को उन्होंने बीच में रोका ताकि वे उसे लिपिबद्ध कर सकें और उसके गहन अर्थ को हृदयंगम कर सकूं। फिर बोले—

"हमारे तीर्थंकरों में सम्राट थे, सार्वभौम चक्रवर्ती थे। उन्हें किस सुख की कमी थी? कौन-सी कठिनाई थी, जिससे बचने के लिए उन्होंने कंटीला त्याग मार्ग अपनाया?

आज भी देखो, बड़े-बड़े करोड़पति, लखपति लोग, जो आराम से घर बैठे मनचाहे भोग भोग सकते थे, दिगम्बर जैन साधु बने हैं और बन रहे हैं। सुखों को त्यागकर वे मुनिव्रत धारण करते हैं, तो उसका कारण कष्टों से भय नहीं, वल्कि कर्मों का भय है। कर्म-बन्धन से मुक्त होने के लिए दिगम्बर जैन साधु भारतवर्ष भर में कुल कितने होंगे? चालीस से अधिक नहीं। यह क्यों?

साधु बनना खेल नहीं

"क्योंकि दिगम्बर जैन साधु वनना कोई खेल नहीं। दिगम्बर जैन साधु कर्मक्षय के लिये अपने शरीर को कठोर यातनाओं में तपाता है। एक दिन में एक बार से अधिक भोजनपान करने वाला दिगम्बर जैन साधु भारत भर में एक भी नहीं मिल सकता। उपवास के समय मरने का भी खतरा क्यों न हो जाय, दिगम्बर जैन साधु एक बूंद पानी तक मुंह में नहीं डालेगा। भोजन के समय भी उसे 46 अन्तराय से बचकर भोजन करना पड़ता है। यदि एक भी अन्तराय हो जाय तो उस दिन वह भोजन नहीं कर सकता। चिल-चिलाती धूप में और कड़ाके की गर्मी में वह दिनभर में एक ही बार—आहार के समय पानी पीता है। उसके बाद तालु सूख जाय, प्राणों को खतरा हो जाय, तो भी वह पानी की बूंद तक मुंह में नहीं डाल सकता। इसी प्रकार सर्दी से ठिठुरने पर भी वह अपने नग्न शरीर पर सूती, ऊनी, रेशमी आदि किसी भी तरह के कपड़ों का टुकड़ा तक नहीं डाल सकता। ये सब यातनायें वह स्वेच्छा से सहता है। इसे तुम कष्टों से भागना कह सकते हो?"

महाराज के इस ओजस्वी प्रवचन के बाद उनको कहने के लिए कुछ भी नहीं रहा। फिर भी उन्होंने विषय की तह तक पहुंचने की इच्छा से पूछा, "यह तो ठीक है महाराज! पर इतनी आत्म-यातना किस लिए? शरीर को इतनी कठोरता के साथ तपाने का उद्देश्य क्या है?"

आचार्य श्री की मुख-मुद्रा से ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके प्रश्न की उन्होंने पहले ही प्रतीक्षा की थी। वे बोले, "हां, इसका भी कारण जान लो। यदि मुट्ठी भर सूखी घास-फूस हो, तो उसे एक तीली की आग से भस्म किया जा सकता है। पर मान लो, एक स्थान पर लकड़ी के गट्ठर पर गट्ठर बराबर इकट्ठे होते जाते हैं, उन तमाम ढेरों को जलाने के लिए साधारण आग काफी नहीं हो सकती है। इसके लिए तो प्रचण्ड अग्नि ज्वाला की आवश्यकता है न?

कर्मक्षय तप से ही सम्भव

'इसी प्रकार मनुष्य के संचित कर्मों की भी अनंत राशियां इकट्ठी पड़ी होती हैं। ऊपर से और भी कर्म पड़ते रहते हैं। इन सब कर्मों का क्षय साधारण व्रतों-नियमों से सम्भव नहीं हो सकता। कठोर तपस्या से ही कर्मक्षय हो सकता है और जीव मुक्त हो सकता है। यही कारण है कि दिगम्बर जैन साधु इतनी शारीरिक यातनायें स्वेच्छा से सहता है।'

इतना कहकर महाराज मौन हो गए और उनके (पं०) मुख की ओर देखा। वह (पं०जी) तो भक्ति-पूर्ण नेत्रों से उन्हें एकटक देख रहा था।

अस्सी वर्ष की आयु, फिर भी स्वर में जरा भी कम्पन नहीं, बाणी में तनिक भी क्षीणता नहीं, शरीर में नाममात्र की भी थकावट नहीं, विचारों में कहीं भी विश्रृंखलता नहीं।

अलौकिकता का अनुभव

वह (पं०जी) अजैन थे, इतने अधिक धार्मिक भी नहीं थे। किसी दिगम्बर जैन साधु को प्रत्यक्ष रूप से देखने का यही उनके लिए पहला अवसर था। फिर भी उन्हें आचार्य श्री के दिगम्बरत्व में कोई अस्वाभाविकता प्रतीत नहीं होती थी। उस आडम्बर-विहीन वातावरण में, महाराज की उस सौम्य, करुणापूर्ण मुख-मुद्रा में, साठ वर्ष की निरन्तर तपस्या की आग में तपे उनके कृश शरीर में, उनके नेत्रों की ज्योति में, उन्हें एक ऐसी अलौकिकता का अनुभव अवश्य हुआ, जिसे देवत्व कहना अत्युक्ति नहीं होगा।

उन्होंने अनुभव किया, वे इस युग के एक महान सन्त के सम्मुख बैठे हैं। उन्हें यह भी विश्वास हुआ कि उस कृशकाय शरीर के आवरण के भीतर जो महान आत्मिक ज्योति जल रही है, उसमें अन्धकाराच्छादित आधुनिक संसार को सन्मार्ग प्रदर्शित करने की पूर्ण क्षमता है।

वे उस भव्य मूर्ति के आगे नतमस्तक हो गये।

●●●

योगः कर्मसु कौशलम्

सातगौड़ा और उसके चचेरे भाई में बातचीत हो रही थी। दोनों एक नारियल के बगीचे में खड़े थे। चचेरे भाई के हाथ में शिकारी बन्दूक थी।

भाई ने कहा, "देखो, बन्दूक चलाना सीखने से कितने लाभ हैं। अब हमें प्यास लगी है। अगर मैं चाहूं तो बन्दूक से गोली चलाकर ही एक नारियल गिरा सकता हूं। तुम्हें तोउसके लिए पेड़ पर चढ़ना पड़ता। मानते हो?"

सातगौड़ा ने बड़े शान्तभाव से कहा–"तुम खुद मानते हो कि नारियल तोड़ने के लिए गोली चलाने के अलावा और भी तरकीबें हैं और फिर यदि गोली चलाकर ही नारियल गिराना है, तो वह भी मैं असम्भव नहीं समझता। मेरा विश्वास है कि मैं भी गोली से नारियल गिरा सकता हूं।"

"लेकिन तुमने तो बन्दूक कभी हाथ में पकड़ी नहीं। एकदम ही कैसे निशाना मार सकोगे?" भाई ने पूछा।

सातगौड़ा ने इसका कोई उत्तर नहीं दिया। उसने चुपके से बन्दूक अपने हाथ में ले ली और उसके चलाने के बारे में तथा निशाना लगाने के बारे में दो-तीन बातें भाई से पूछ लीं। इसके बाद उसने बन्दूक तानकर निशाना लगाया और गोली चला दी।

अगले ही क्षण एक नारियल गुच्छे से कटकर गिर पड़ा।

भाई के आश्चर्य की सीमा न रही। उसने सातगौड़ा को बधाइयां देते हुए विस्मय सहित पूछा, "अभी-अभी तो तुमने बन्दूक कैसे पकड़नी चाहिए, यह बात मुझसे सीखी थी। तो फिर इतने अचूक निशानेबाज कैसे बन गये इतनी थोड़ी देर में?"

सातगौड़ा ने कहा, "मैंने निश्चय कर लिया कि नारियल एक ही बार में गिरा

दूंगा। बस, गिरा दिया।" यही सातगौड़ा, आगे चलकर मुनि शान्तिसागर तथा बाद में आचार्य शान्तिसागर महाराज के नाम से विख्यात हुआ।

अतिमानवीय संकल्प शक्ति

आचार्य शान्तिसागर जी की अतिमानवीय संकल्प-शक्ति एवं इच्छाशक्ति पर प्रकाश डालने के लिए उनके अनन्यतम श्रावक शिष्य श्री तलकचन्द शाह वकील ने उपरोक्त घटना का उल्लेख किया था। संकल्प की इसी दृढ़ता ने आचार्य श्री को तपस्या के शिखर पर पहुंचा दिया है और धर्म के दुरूह मर्मों को भी समझने-समझाने की अद्वितीय प्रतिभा उन्हें प्रदान की है।

आचार्य महाराज की इस संकल्प-शक्ति एवं शारीरिक बलिष्ठता पर प्रकाश डालने वाली कई और बातें वकील साहब से पं० जी को मालूम हुईं। उनमें आचार्य श्री की युवावस्था की दो घटनायें उल्लेखनीय हैं।

सातगौड़ा के पिता ने पहले उन्हें खेतीबाड़ी के काम में लगाया था। सातगौड़ा बड़ा ही बलिष्ठ था। अटल ब्रह्मचर्य के कारण उसकी शारीरिक शक्ति अपने समवयस्कों से कहीं अधिक थी।

सातगौड़ा के खेत की सिंचाई मोट द्वारा होती थी। चोड़े कुएं से बैलों की सहायता से पानी खींच कर नालों के जरिये खेतों को सींचा जाता था।

एक दिन इस तरह पानी खींचते-खींचते सातगौड़ा ने सोचा, ये बैल दोनों मिलकर पानी से भरे मोट को खींचते हैं। इसका मतलब यह है कि भरा हुआ मोट और बैल ये दोनों करीब-करीब समान शक्ति के हैं। अब यह देखना चाहिए कि मैं इन दोनों से अधिक शक्तिशाली हूं या नहीं।

युवावस्था थी। शरीर में शक्ति थी और मन में साहस। जब भरे हुए मोट को बैल आधी दूर तक खींच चुके थे, तब सातगौड़ा ने ठीक बीच में मोट की रस्सी व बैलों को बीच की तरफ खींचा। पूरी शक्ति से खींचने पर जहां एक तरफ मोट ऊपर आ गया, वहां दूसरी ओर बैल भी पीछे की तरफ खिंचकर आ गये।

अब सातगौड़ा को सन्तोष हुआ कि मैं बैलों व मोट की सम्मिलित शक्ति की समता कर सकता हूं, बल्कि उनको मात कर सकता हूं।

असाधारण बल

आचार्य महाराज के युवकपन की यह घटना सुनाने के बाद वकील साहब ने कहा कि यद्यपि महाराज का शरीर युवावस्था में अत्यन्त बलिष्ठ था, फिर भी उनकी मनः शक्ति ही के कारण यह अति मानुपिक कार्य सुलभ साध्य हो सका।

आचार्य श्री युवावस्था में कितने वलिष्ठ थे, इसकाएक और उदाहरण भी पं० जी ने कितनों के मुंह से सुना।

वालकपन से ही सातगौड़ा का मन धार्मिक विषयों में सहज ही प्रवृत्त होता था। उत्साह के तो वह मूर्त्तस्वरूप ही थे। उन दिनों वे प्रसिद्ध जैन तीर्थों की यात्रा पर अन्य आस्तिक जनों के साथ जाया करते थे। एक वार प्रसिद्ध जैन तीर्थ सम्मेदाचल की यात्रा पर वह गये थे। स्वयं तो उस कठिन शिखर पर अनायास चढ़कर दर्शन किये ही, बाद में ऐसे यात्रियों को भी, जो कमजोरी के कारण ऊपर चढ़ने में कष्ट अनुभव कर रहे थे, एक-एक करके अपनी पीठ पर चढ़ाकर ऊपर ले गये और दर्शन कराके वापिस लिवा लाये।

ऐसे शारीरिक बल की कल्पना तक करना हमें कठिन प्रतीत हो रहा है। पर आचार्य महाराज की कई साधनायें ऐसी हैं, जो साधारण मानवों की पहुंच के क्या, कल्पना के भी बाहर हैं।

ललितपुर का चातुर्मास

महाराज श्री की साधनाओं का उल्लेख करते ही मुझे उनके ललितपुर में किये गये चातुर्मास का अद्‌भुत विवरण स्मरण हो आता है। महाराज के जितने शिष्यों भक्तों से मैं मिला, उन सबने इस चातुर्मास का उल्लेख किया। इसका विवरण इतना रोमांचकारी है और साथ ही महाराज की अनुपम मानसिक दृढ़ता एवं तपश्चर्या का द्योतक है कि इसका विस्तृत वर्णन करने की इच्छा को मैं संवरण नहीं कर सकता।

दिगम्बर जैन मुनि प्रत्येक चातुर्मास के समय कोई-न-कोई विशेष व्रत धारण करते हैं और उसे निविघ्नतापूर्वक पूरा करते हैं। इस प्रथा के अनुसार आचार्यश्री ने ललितपुर के चातुर्मास से पूर्व षटरस-त्याग का संकल्प किया था। इसका अर्थ यह था कि महाराज उस चातुर्मास भर में दूध दही, घी, तेल आदि कोई भी रसमय पदार्थ नहीं लेंगे।

इस कठिन व्रत का संकल्प करने के बाद महाराज ने "सिंहनिष्क्रीड़ित" नामक व्रत का उल्लेख किसी ग्रन्थ में पढ़ा। महाराज की प्रवृत्ति ऐसी है कि कोई कार्य जितना अधिक कठिन हो, उसे कर डालने की उनकी इच्छा भी उतनी ही प्रबल हुआ करती है। यह दम्भ अथवा अभिमान के कारण नहीं, वल्कि आत्म-परीक्षा की भावना से। वे सदा अपने को तपस्या की परीक्षाओं में परखते रहते हैं। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने षट्रस-त्याग के साथ-साथ सिंहनिष्क्रीड़ित नाम के महाकठिन व्रत का भी पालन करने का संकल्प कर लिया।

सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत क्या है, यह जाने बिना इस बात का बोध नहीं हो सकता कि महाराज ने अपने को कैसी कठोर तपस्याग्नि में तपाने का संकल्प किया था।

वनचरों के राजा सिंह की चाल विलक्षण ढंग की होती है। वह दो कदम आगे चलता है, फिर रुककर पीछे देखता है। फिर चार कदम आगे जाकर खड़ा हो जाता है और घूमकर देखता है। पीछे की ओर देखने की सिंह की इसी क्रिया को सिंहावलोकन कहा जाता है। सिंह की इस प्रकार की चाल सिंहनिष्क्रीड़ित कहलाती है।

सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत

सिंहनिष्क्रीड़ित व्रतधारी भी इसी प्रकार चाल चलता है। उसका क्रम कुछ इस प्रकार होता है : एक दिन उपवास, अगले दिन भोजन, तीसरे-चौथे दिन उपवास, पांचवें दिन भोजन, छठे, सातवें, आठवें दिन उपवास, नवें दिन पुनः भोजन। इस आरोहणक्रम से उपवासों की संख्या बढ़ती जाती है। जब नौ उपवास के बाद एक दिन भोजन किया जाता है, तब अवरोहण क्रम शुरू हो जाता है अर्थात् नौ उपवास, एक भोजन; आठ उपवास, एक भोजन; सात उपवास, एक भोजन; छः उपवास, एक

भोजन; इत्यादि। जब यह क्रम एक उपवास और एक भोजन तक पहुंच जाता है, तो पुनः आरोहरण-क्रम शुरू हो जाता है। इस तरह चातुर्मास की समाप्ति तक आरोहण और अवरोहण-क्रम को पूर्णतया निभाते हुए व्रत रखना सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत कहलाता है।

एक तो पट्रस-त्याग। ऊपर से सिंहनिष्क्रीड़ित जैसा कठोर व्रत। साधारण समय में भी दिगम्बर जैनमुनि दिनभर में एक बार भोजन करते हैं और एक ही बार भोजन के समय जल पीते हैं। उपवास के समय तो जल भी नहीं पी सकते। ऐसी स्थिति में सिंहनिष्क्रीड़ित जैसा कठोर व्रत धारण करने के लिए मन में कितनी दृढ़ता होनी चाहिए, कितनी सम्पूर्ण विरक्ति की भावना चाहिए, इसकी कल्पना पाठक स्वयं कर सकते हैं।

एक और परीक्षा

महाराज इस अग्निपथ पर चल पड़े ही थे कि इतने में भाग्य ने उनके सामने और एक अतिकठोर परीक्षा लाकर खड़ी कर दी। एक दिन आहार के समय महाराज ने जो जल पिया था, उसमें न जाने क्या खराबी थी, महाराज के तपस्तप शरीर में मलेरिया जैसे असह्य रोग ने घर कर लिया।

महाराज उस समय करीब साठ वर्ष के थे। भारत जैसे देश में साठ वर्ष की आयु वृद्धावस्था ही होती है। अतः महाराज के शिष्य एवं भक्तगण इससे पहले ही इस बात से चिंतित थे कि महाराज ने षटरस-त्याग एवं सिंहनिष्क्रीड़ित जैसे दो कठोर व्रतों को एक साथ धारण कर रखा है, उनका वृद्ध शरीर इसको कैसे सह सकता है? ऊपर से जब मलेरिया ने भी आ घेरा तो भक्तों की चिन्ता का पार न रहा।

कठोर व्रत एवं रोग के कारण महाराज का शरीर सूखकर लकड़ी हो गया। मांस नामक वस्तु नाममात्र के लिए भी शरीर में रह नहीं गयी थी। चमड़े से ठका हुआ हाड़ का पंजर ही शेष रह गया था। देखकर भक्तों के आंसू छलक आते थे।

यदि किसी एक व्यक्ति ने इन बातों की तनिक भी परवाह न की और प्रसन्न रहे, तो वह केवल आचार्य श्री स्वयं थे। उनकी दिनचर्या पूवर्वत् जारी रही। वह किसी भी अनुष्ठान में कोई भी कमी नहीं रहने देते थे। सब भक्तों ने मिलकर

अश्रुमय विनती की कि महाराज, इस समय षट् रस-त्याग अथवा सिंहनिष्क्रीड़ित, किसी एक व्रत को त्याग दीजिए। आपकी वर्तमान दशा में कोई उसे अनुचित नहीं कह सकता। पर महाराज टस से मस न हुए। कहीं अचल भी हिला करते हैं?

एक दिन सिंहनिष्क्रीड़ित के आरोहणक्रम में नौ दिन लगातार उपवास करने के बाद महाराज के भोजन करने की बारी आयी। महाराज का शरीर क्या था, केवल चमड़े से ढकी हुई ठठरी शेष रह गयी थी। उसमें अब भी जान थी और वह चल-फिर सकती थी, यही अविश्वसनीय आश्चर्य का विषय था।

श्रावकों को चिंता

महाराज के आहार के लिए कितने ही चौके लगे हुए थे। नौ दिन के उपवास के बाद महाराज केवल एक दिन आहार ग्रहण कर रहे हैं। कहीं कोई भी अन्तराय हो गया, अनुष्ठान में जरा भी त्रुटि रह गयी, तो वह भोजन नहीं करेंगे। उस दिन भी महाराज यदि निराहार रह गये,तो फिर सिंहनिष्क्रीड़ित व्रत के कारण और आठ दिन उन्हें उपवास करना होता और इस तरह कुल अठारह दिनों का निरंतर उपवास और हो जाते। उस रुग्ण अवस्था में उतना दीर्घ उपवास महाराज के वृद्ध शरीर से सहा कैसे जायेगा? इसीलिये सभी श्रावकों को इस बात की विशेष चिंता थी।

इन विचारों से श्रावकगण एकदम घबड़ाये हुए थे। एक बहुत बड़ा दायित्व उनके कन्धों पर था, अतः उनकी घबराहट स्वाभाविक थी।

अत्यन्त शुद्ध स्वच्छ भोजन तैयार हो गया। आखिर महान परीक्षा की घड़ी आ गयी। आचार्य महाराज ज्वर के वेग से कांपते हुए शरीर के साथ चलकर आये।

पं० जगमोहन के कंपकंपी-सी लग गयी। न उनसे कुछ करते बनता था, न उनकी पत्नी ही कुछ कर सकती थीं। दोनों के शरीर थर-थर कांप रहे थे।

उधर महाराज ज्वर-दग्ध दुर्बल शरीर के साथ खड़े हैं।

भाग्यवश, फलटणवाले वकील तलकचन्द जी वहां थे। वह पण्डित जी के घनिष्ट मित्र थे और आचार्य श्री के अनन्य भक्त। उन्होंने झट पण्डित जी से कहा, "यह क्या कर रहे हो? आचार्य श्री कब तक खड़े रहेंगे? जल्दी से कुछ खाद्य-पदार्थ लेकर उनके करपात्र में धरो, ताकि वह आहार प्रारम्भ करें।"

वकील साहब की इस सामयिक चेतावनी ने दिव्यौषध का काम किया। पं० जगमोहन जी और उनकी धर्मपत्नी जागरूक हो गये और आचार्य श्री को विधिवत् आहार कराना आरम्भ किया।

एक महान् विपदा टल गयी। आचार्य श्री की आहारविधि निर्विघ्न रूप से, बिना अन्तराय के समाप्त हुई। दिगम्बर जैन समाज की जान में जान आयी।

इस तरह इस अत्यन्त कठिन परीक्षा में आचार्य श्री पूर्णतः सफल निकले और सभी व्रतों को नियमपूर्वक पूरा किया और साथ ही स्वस्थ भी हो उठे। ठीक उसी प्रकार, जैसे सुवर्ण अग्नि में दीर्घकाल तक तपकर कुन्दन हो उठता है।

वह जन्मजात तपस्वी हैं। मन-वचन-काय पर पंचेन्द्रियों पर, उन्हें सम्पूर्ण विजय प्राप्त है। अतः उनके लिए ये सब साधनायें अतीव सुलभ-साध्य हैं, यद्यपि हमारे जैसे साधारण मनुष्यों के लिए वे कल्पनातीत हैं।

तपस्या का भाग्य

यह सब विवरण इस अध्याय में एक साथ देने से मेरा उद्देश्य केवल यह सिद्ध करना है कि आचार्य शान्तिसागर महाराज में जन्म से ही जैसी अतिमानवीय संकल्प शक्ति, मानसिक साहस एवं शारीरिक बल था, उसका वह जीवन के जिस क्षेत्र में भी उपयोग करते, सफलता के उच्चतम शिखर तक अनायास ही पहुंच सकते थे। धनकुबेर, राजनीतिक नेता, उद्योगपति, योद्धा, शासक, जो भी वह चाहते बन सकते थे। जो लोग आज इन विभिन्न क्षेत्रों में अग्रिम श्रेणी पर पहुंचे हुए हैं। उनके व्यक्तित्वों की विशेषताओं के साथ आचार्य श्री के व्यक्तित्व की तुलना करने पर मेरे इस कथन की सार्थकता स्पष्ट सिद्ध हो जायेगी।

यह तपस्या का अहोभाग्य है कि आचार्य महाराज ने जीवन के उपरोक्त अन्य क्षेत्रों को तुच्छ समझ कर त्याग दिया और विरक्ति का मार्ग अपनाया।

नैतिक एवं आध्यात्मिक तन्द्रा के इस युग में भी भारत ने ऐसे एक यतीन्द्र को जन्म दिया, यह इस देश की आन्तरिक महानता का द्योतक है। ऐसे तपोधन को अपना कहने की योग्यता पाने पर दिगम्बर जैन समाज निःसन्देह गर्व कर सकता है।

●●●

अविचल तपस्वी

"विघ्नैः मुहुर्मुहुरपि प्रतिहन्यमानाः'
प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति"

—भृर्तहरिः

जीवन के किसी भी क्षेत्र में अन्तिम ध्येय तक पहुंचने से पहिले अनेकों विघ्न-बाधाओं को पार करना पड़ता है। जो दृढ़-निश्चयी नहीं होते, जिनका संकल्प अस्थिर होता है, वे तो कुछ विघ्नों का सामना होते ही हिम्मत हार जाते हैं। अन्य लोग पथभ्रष्ट हो जाते हैं। परन्तु सफल वही होता है, जो भर्तृहरि के उपरोक्त शब्दों के अनुसार विघ्नों से बार-बार प्रताड़ित होने पर भी न्याय के पथ से तनिक भी नहीं डिगता।

दिगम्बर जैन साधु का त्यागमार्ग वैसे भी कण्टकमय होता है। उस पथ के पथिक को लौकिक एवं नैसर्गिक कष्टों का पग-पग पर सामना करना पड़ता है। जो जन्मजात विरागी हों, जिसका मन, हृदय और आत्मा विरक्ति के पुण्य स्रोत से सराबोर हों, वही इन कष्टों का साहसपूर्वक सामना कर सकता है और उन पर विजय पा सकता है।

दिगम्बर जैन साधु इतने सरल और इतने आडम्बर विहीन होते हैं कि उनकी परिभाषा में बड़े से बड़ा संकट भी केवल "उपसर्ग" कहलाता है। अपने असीम, विश्वव्यापी दयाभाव के कारण वे संकटों को भी कठोर विशेषणों से कष्ट देना नहीं चाहते।

आचार्य श्री शान्तिसागर महाराज के जीवन में ऐसे असंख्य उपसर्ग उपस्थित हुए हैं। पर जैसे प्रचण्ड से प्रचण्ड झंझावात भी पर्वत को हिला नहीं सकता, ठीक उसी प्रकार आचार्य श्री की स्थिर, प्रशान्त तपश्चर्या को ये उपसर्ग तनिक भी विचलित नहीं कर सके।

दिगम्बर जैन साधुओं का नियम है कि जब भी कोई उपसर्ग—कोई संकट आता है, वे उसको चुपचाप सहते रहते हैं। तब तक वे अविचलित रहते हैं जब

तक कि उपसर्ग अपने आप टल नहीं जाता। कभी-कभी इस अविरोध के फलस्वरूप उन्हें अपने प्राणों पर खेल जाना पड़ता है। पर दार्शनिकता का जीवन में अवलम्बन करने वाले इन निस्पृह भव्य जीवों के लिये शरीर-त्याग कोई बड़ी क्षति होती ही नहीं है। शरीर तो केवल एक पिंजरामात्र है जिसमें जीव बन्द रहता है। यदि पिंजरा टूट जाय तो उससे पंछी दुखी क्यों हो? यदि जीव का कर्मक्षय पूर्ण नहीं हुआ, तो कोई दूसरा शरीर ढूंढ लेगा। इसमें क्षति कैसी?

अन्य धर्मावलम्बी भी ऐसे दर्शनिक विचार अवश्य व्यक्त करते हैं। पर जब परीक्षा का अवसर आता है, तो बहुत कम लोग अपने दार्शनिक विचारों पर दृढ़ रह पाते हैं। शरीर की माया ऐसी है।

पागल का उपसर्ग

आचार्य शान्तिसागर जी के जीवन में उपसर्ग कई प्रकार के आये। मुनि-दीक्षा ग्रहण करने के कुछ ही समय बाद एक बार वे कोगनोली गांव के बाहर एकान्त गुफा में रहने लगे थे। गांव में एक पागल रहता था। वह एक रात को भटकते-भटकते आचार्य श्री की गुफा पर आ पहुंचा। महाराज अन्दर समाधिस्थ बैठकर ध्यान कर रहे थे। गुफा का द्वार तो बन्द था, पर खिड़की खुली थी। पागल ने उस खिड़की के रास्ते गुफा के अन्दर ईंट-पत्थर गिराना और शोर मचाना शुरू कर दिया। करीब प्रातःकाल तक वह पागल इसी प्रकार ऊधम मचाता रहा। पर महाराज के ध्यान में इससे जरा भी अन्तर नहीं आया। उनका तो मन अन्तर्मुख हो चुका था। बाहर के उपद्रवों की उन्हें सुधि कहां?

इसी समय की घटना है कि ऐनापुर में एक गृहस्थ महाराज का प्रतिग्रह कर भोजन के लिए घर के अन्दर ले गया। महाराज का भोजन भी सम्पन्न हो गया। बाद में महाराज को मालूम हुआ कि उस गृहस्थ ने किसी दूसरे घर का तैयार किया हुआ भोजन उन्हें खिलाया था। जैन-मुनियों के लिये विहित 46 अन्तरायों में एक यह भी है कि जिस घर में आमन्त्रित किया जाय, उस घर का तैयार किया गया भोजन ही ग्रहण किया जाय, न कि बाहर से मंगाया गया भोजन। अतः महाराज ने यह दूषित अन्न ग्रहण करने के बदले प्रायश्चित करने का निश्चय किया।

कठोर प्रायश्चित्त

महाराज प्रायश्चित्त स्वरूप एक तपती हुई पहाड़ी की चट्टान पर जाकर बैठ गये और यह प्रतिज्ञा की कि आठ दिन तक यहीं बैठा रहूंगा और दूध के सिवाय और कोई आहार ग्रहण नहीं करूंगा।

चिलचिलाती धूप। पत्थर अंगारों की तरह तप गये थे। महाराज उस अग्निमय आतप में पत्थर पर समाधिस्थ बैठ गये। उग्र गर्मी के कारण खून सूख-सा जा रहा था, प्यास सताने लगी। फिर भी महाराज का मन शान्त था। नियमित समय पर आहारचर्या पर निकलते और प्रतिज्ञानुसार दुग्धाहार भर ग्रहण करके वापस पहाड़ी पर आकर ध्यानस्थ बैठ जाते। हड्डियां अकड़-सी जाती थीं चलना-फिरना क्या, उठना भी पहाड़-सा लगता। पर शरीर की यह घोर यातना, स्थितप्रज्ञ महाराज के मानसिक सन्तुलन में कोई अन्तर नहीं ला सकी। आठ दिन का कठोर प्रायश्चित्त सफलतापूर्वक समाप्त कर महाराज उस गांव से निकले और धार्मिक प्रचार करते हुए पर्यटन करने लगे।

सर्प का उपसर्ग

ऐसे साधारण उपसर्गों से इस दृढ़व्रती को विचलित न होते देख तपस्या की देवी ने इनके आगे और भी कठिन परीक्षायें प्रस्तुत कीं। उपरोक्त घटना के कुछ समय बाद कोन्नूर में महाराज का चातुर्मास हुआ। यहां पर एक दिन महाराज ध्यानस्थ बैठे थे कि इतने में एक विषैला सर्प उनके शरीर पर लिपट गया। सामायिक की अवधि समाप्त होने के बाद जब भक्तजन महाराज का उपदेश सुनने के लिए उनके समक्ष आये तो क्या देखते हैं, महाराज उसी ध्यानस्थ मुद्रा में अचल बैठे हैं और सर्प उनके शरीर पर रेंग रहा है। कुछ भक्त चिन्तित और अधीर हो उठे, पर करें क्या? सर्प को छेड़ना एक तो धर्म विरुद्ध कार्य होगा और दूसरे उससे महाराज के प्राणों को ही खतरा था। सब देखते रहे गये।

करीब दो घंटे तक महाराज के शरीर पर क्रीड़ा करने के बाद सर्प अपने आप उतरकर चला गया। उसके कुछ समय बाद महाराज ध्यान से हटकर बहिर्मुख हुए। इतनी भारी विपदा का उन्हें बोधतक नहीं था।

सर्प का उपसर्ग महाराज के जीवन में अनेकों बार हुआ है। क्षुल्लक अवस्था

में एक बार कोगनोली के प्राचीन जिनमन्दिर में जब महाराज ध्यान कर रहे थे, तब एक सर्प उनकी कमर पर लिपट गया। काफी देर लिपटे रहने के बाद वह उतरकर अपनी राह चला और महाराज उठकर बाहर आये जैसे कुछ भी न हुआ हो।

महाराज के पट्टशिष्य श्री नेमिसागर महाराज ने एक घटना सुनायी जिसे चमत्कार कहना अत्युक्ति नहीं होगी। एक बार महाराज की गुफा में एक सर्प आया और कई दिन तक वहीं निरन्तर वास करता था। जब महाराज एकान्त में समाधिस्थ बैठ जाते थे, तब वह सर्प उनकी परिक्रमा करता रहता। समाधि भंग होकर लोगों के आने लगने पर वह महाराज के चरणों के बीच में दुबककर छिप जाता। इस प्रकार कई दिन हुआ। बाद में एक दिन वह सर्प वहां से चला गया।

इस जड़वादी यन्त्र-युग में किसी भी आध्यात्मिक सिद्धान्त पर अटल रहना अति कठिन है। तिस पर दिगम्बर जैन मुनि बनकर रहने और शास्त्रोक्त विधि से नियमों का पालन करने में कितनी कठिनाइयां हो सकती हैं, इसकी कल्पना आसानी से की जा सकती है।

राग-द्वेष-विमुक्त

महाराज का दिगम्बरावस्था में आहार के लिए तथा अन्य नियम-पालन के लिए निकलना इतर लोगों को बुरा लगता था। वे समझते कि हमारी भावनाओं को ठेस पहुंचाने के लिए इस तरह जानबूझ कर नग्न पर्यटन किया जा रहा है।

ऐसी ही भ्रान्ति के कारण एक बार एक मतिभ्रष्ट व्यक्ति ने आचार्य श्री की हत्या करने की ठान ली और नंगी तलवार लेकर उस स्थान पर पहुंच गया, जहां महाराज ध्यानस्थ बैठे थे। भक्तों ने समय पर देख लिया और उसे रोका। पर वह न माना और महाराज के निकट पहुंच गया। चारों तरफ हाहाकार मच गया।

फिर भी महाराज उसी ध्यानस्थ मुद्रा में शान्तचित्त बैठे थे। बाह्य व्यापारों की उन्हें सुधि ही न थी।

भाग्यवश इतने में कुछ श्रावकों के खबर देने पर पुलिस वहां पहुंची और उस मूर्ख को पकड़ ले गयी। बाद में ध्यान पूर्ण होने के बाद महाराज को जब इस

घटना का हाल सुनाया गया, तो उन्होंने उस पथभ्रष्ट व्यक्ति के विरुद्ध फौजदारी का मामला चलाने से इन्कार कर दिया। यही नहीं, उन्होंने पुलिस अधिकारियों से कहकर उसे छुड़ा भी दिया। महाराज के इस क्षमाभाव ने उस मतिभ्रष्ट की बुद्धि पर पड़े अज्ञान के पर्दे को हटा दिया। उसे अपनी भूल महसूस हुई और उसने महाराज का ध्यान टूटने के बाद उनके पांव पड़कर क्षमायाचना की।

महाराज तो क्षमासागर हैं ही। उन्हें इस बात पर प्रसन्नता हुई कि इस मतिभ्रष्ट का अज्ञान अब तो दूर हुआ उन्होंने उसे क्षमा कर दिया।

●●●

वात्सल्य हो तो ऐसा!

एक बार एक प्यासा मृग युगल पानी को खोजता हुआ ग्राम के समीप आया, वहाँ किसी कुँए के पाट पर बने गड्ढे में थोड़ा-सा पानी दिखा। तब मृगी ने मृग से व मृग ने मृगी से पानी पीने को कहा। पानी से केवल एक की ही प्यास बुझ सकती थी। तब दूसरा बिना पानी के वहीं मर जाता तथा पानी पीने वाला भी उसके वियोग में जीवित नहीं रह सकता था। तब दोनों एक-दूसरे को ही पानी पीने की कहते-कहते मर गये।

प्रातःकाल दो सखी वहाँ पानी भरने आईं। उनमें से एक सखी ने दूसरी सखी से पूछा–

खड़ा दिखे न पारधी, लगा दिखे ना बाण।
कह सखी मृग युगल ने, क्यों तज दीने प्राण।।

तब दूसरी सखी जो प्रेम के वियोग की वेदना को जानती थी वह यूँ कहने लगी–

पानी थोड़ा हित घना, लगा प्रीति का बाण।
तू-पी, तू-पी, कहत ही, दोनों दीने प्राण।।

काश! उन मृग युगल जैसा प्रेम/वात्सल्य धर्मात्मा में भी दिखायी दे, तो आज भी यहाँ घी, दूध की नदियाँ बह सकती हैं।

मानवता की प्रतिमूर्ति

आचार्य शान्तिसागर महाराज के कठोर काय-क्लेश एवं तपश्चर्या का विवरण पढ़ने वाले शायद यह कल्पना कर सकते हैं कि वह सदा शुष्क विरागी भावना में ही रहते हैं। यह बात ठीक है कि आचार्य श्री का मन सदा त्याग-मार्ग में लीन रहता है। पर उनकी तपश्चर्या उनकी मानवीय सहृदयता पर कभी हावी नहीं होती। जैसा मैंने एक अध्याय में वर्णन किया है, आचार्य श्री और उनके शिष्य यतियों में से आत्मिक आनन्द का एक अविरल स्रोत-सा सदैव प्रवाहित होता रहता है और दर्शकों के चिन्ता-ज्वर-दग्ध मस्तिष्क एवं हृदय पर शीतल लेप का-सा प्रभाव डालता है।

आचार्य श्री की मधुर मानवता का परिचय वह पं० जी को उनसे प्रथम भेंट करते ही प्राप्त हो गया। मैं पहले ही इस बात का उल्लेख कर चुका हूं कि कैसे महाराज ने कुछ ममत्वपूर्ण शब्दों से उनका असमंजस दूर कर दिया और वातावरण को स्निग्ध बना दिया।

प्रथम भेंट के बाद जब वे प्रणाम करके उठने लगे तो आचार्य श्री ने पितृसमान वात्सल्य के साथ पूछा, "तुम लोगों के भोजन और रहने की व्यवस्था ठीक है न? कोई कठिनाई तो नहीं हे?"

यह उन साधु का प्रश्न था, जो स्वयं अपने आहार की कभी चिन्ता नहीं करते और जो उपवास के दिन अन्य दिनों से अधिक प्रसन्न रहते हैं। वे द्रवित हो गये।

बच्चे से कुशल प्रश्न

सायंकाल महाराज मन्दिर के बाहरी मण्डप में बैठे थे। समयसार का पाठ हो रहा था। श्रावक भक्तगण सामने बैठे थे और साधु लोग आचार्य श्री के बगल में आसीन थे। पाठ समाप्त हुआ और महाराज उठने ही वाले थे कि इतने में एक तीन-चार साल का बच्चा महाराज के सामने आकर बैठ गया। उसके माथे पर पट्टी

बंधी हुई थी। यह एक श्रावक बन्धु का सुपुत्र था।

महाराज श्री ने उसको देखा और उसके माथे पर की पट्टी को देखकर चिन्तित भाव से श्रावक बन्धु से पूछा—"क्या इसका घाव अभी ठीक नहीं हुआ?"

श्रावकबन्धु ने कहा, "नहीं महाराज। पुरानी चोट ठीक हो गयी थी, इतने में दुबारा गिर पड़ा जिससे दूसरी चोट लग गयी। यह पट्टी उसी पर बन्धी है।"

महाराज उस बच्चे को करुणा पूर्ण नेत्रों से देखकर मुस्कुराये और बोले, "रोज एक नयी चोट लगा लेता है।"

सब हंस पड़े।

है तो मामूली-सी घटना। पर किसी भी बड़े आदमी की सहृदयता को ऐसी ही साधारण दिखने वाली घटनाओं से आंका जा सकता है।

आचार्य श्री के पास रोज सैकड़ों व्यक्ति दर्शनार्थ आते थे। राजे-महाराजे, बड़े-बड़े धन-कुबेर, विख्यात पण्डितगण, वकील, उच्च सरकारी अधिकारी आदि भी इनमें होते थे और साधारण कोटि के लोग और निर्धन व्यक्ति भी। पर सब के साथ महाराज का एक जैसा व्यवहार होता था। उनके सामने न कोई बड़ा था, न कोई छोटा। दम्भी लोग उनके सामने अपना दम्भ भूल जाते थे, जबकि निर्धन एवं नम्र लोग उनके सान्निध्य में ऐसा अनुभव करते थे जैसे कि वे उच्च शिखर पर चढ़ गये हों। दो-तीन प्रेम भरी बातें करके महाराज अत्यन्त संकोची व्यक्ति में भी आत्म-विश्वास का संचार करा देते थे।

साधारण मानवों की दुर्बलता-पूर्ण चरित्रों के कंकरों के सामने आचार्य श्री का शुभ्र तपस्यामय चरित्र हिमालय की भांति अतुलनीय प्रतीत होता था। फिर भी आचार्य श्री पतित से पतित व्यक्ति को भी अवज्ञा या अवहेलना की दृष्टि से नहीं देखते। उनका दयामय हृदय दुर्बल आत्माओं में भी आत्मिक शक्ति का संचार कर उन्हें उन्नत करने के लिए आतुर हो उठता था।

पाखण्डपन के विरोधी

एक ही बात ऐसी है जिसे वह सहन नहीं कर सकते, और वह है पाखण्डपन

और ढोंग। पाखण्डियों को वह अपने पास तक फटकने नहीं देते। यदि वह देखें कि अमुक व्यक्ति सत्य-भाषण नहीं कर रहा है, बल्कि ढोंग रच रहा है, तो वह तत्काल उसके मुंह पर कह देते हैं कि तुम्हारी बात हमें सत्य नहीं प्रतीत होती।

इस निर्भीक स्पष्टवादिता के कारण महाराज कितनों के क्रोध के भाजन बने थे। पर वह ऐसों के क्रोध की कब परवाह करने लगे?

पर जहां प्रोत्साहन की आवश्यकता हो, वहां आचार्य श्री खुले हृदय से प्रोत्साहन देने से नहीं चूकते। इसके कई उदाहरण पं० जी ने अपनी आंखों से देखे।

अपने शिष्यों के साथ महाराज का व्यवहार देखते ही बनता था। शिष्यों का कोई हाव-भाव अथवा चाल-ढाल उनकी दृष्टि से छिपी नहीं रहती। फिर भी वह लोगों के सामने उनसे शायद ही कोई शब्द कहते हों। इशारे मात्र से जग से दृष्टिपात से, वह शिष्यों को अपने मन की बात समझा देते थे और वे भी अभ्यस्त होने एवं गुरु के स्वभाव से पूर्णतः परिचित होने के कारण उनके हर संकेत को समझ लेते थे।

आचार्य श्री विनोद भी करते थे, पर अत्यन्त परिमार्जित एवं सौष्टवपूर्ण ढंग से। पं० जी ने अपने प्रश्नों और उनके उत्तर को जब जल्दी-जल्दी में लिख लिया था, तो महाराज ने मुस्कुराते हुए कहा, "प्रश्नोत्तर विस्तृत रूप से लिखने के बाद मुझे जरूर सुनाकर गलतियां सुधार लेना। मैंने जो कुछ कहा, उसकी तुमने गलत रिपोर्ट छाप दी और कोई शास्त्र-विरोधी बात मेरे नाम पर छाप दी तो लोग मेरे पीछे पड़ जायेंगे। इसलिए मुझे चौकन्ना रहना पड़ता है। समझे न?"

क्या ले जा रहे हो?

जब वे तीन दिन उस पवित्र स्नेहमय वातावरण में बिताने के बाद बिदा लेने के लिए महाराज के सामने उपस्थित हुए, तो उन्होंने मुस्कुराते हुए पूछा—"यहां से क्या ले जा रहे हो?"

उन्होंने कहा, आपके दर्शन हुए, आपके प्रवचन सुने, यही मेरे भाग्योदय का परिणाम था, महाराज! आपकी बड़ी कृपा होगी।"

महाराज बोले, "सो तो ठीक है। पर अगर तुमने कुछ प्राप्त नहीं किया, तो

केवल दर्शन-श्रवण से ही क्या लाभ? अब से यह निश्चय कर लेना कि भगवान की वाणी के विरुद्ध या विपरीत कोई काम नहीं करूंगा। मैंने जिन पांच महापापों का वर्णन किया था, उनसे सदा बचकर चलना। यहां आने का कम से कम इतना लाभ तुम्हें होना चाहिए!"

धार्मिक प्रभावना को बढ़ाना ही आचार्य महाराज का जीवन-ध्येय था। जो भी उनके सम्पर्क में आये, उसे वह यही उपदेश देते थे। उनके वचन क्या थे, जैन शास्त्रों का निचोड़ा हुआ सार था।

सहृदयतापूर्ण प्रश्न

यह गम्भीर उपदेश देने के तुरन्त बाद महाराज ने रास्ते में उनके भोजन आदि की व्यवस्था के सम्बन्ध में पूछताछ की। जब उन्होंने कहा कि मैंने प्रातःकाल दूध के साथ कलेवा कर लिया है और अब पुणे में पहुंचकर भोजन कर लूंगा, तो आचार्य जी बोले—"दूध से क्या होता हे? पुणे तक तो पांच-छः घंटे का सफर है। तब तक भूखे कैसे रहोगे? नातेपूते में भोजन कर लेना।"

यह सुनकर पं० जी का हृदय भर आया। पिछले दिन अष्टमी होने के कारण महागज ने उपवास रखा था। आज उनकी आहार-चर्या अभी हुई नहीं थी। कुल मिलाकर 36 घंटे से अधिक समय से वह भूखे थे। उसकी उन्हें जरा भी चिन्ता नहीं थी। पर मुझसे वह कह रहे थे कि पांच-छः घन्टे तक (दूध पीने के बाद) तुम भूखे कैसे रहोगे? मानवता इसे कहते हैं।

फिर कपटी संसार में

पं० जी के शब्दों में "दहीगांव से नातेपूते—पूना और फिर दिल्ली! तीन दिन एक अलौकिक आध्यात्मिक शान्तिमय वातावरण में बिताने के बाद फिर झूठ, फरेब, वाह्याडम्बर, जड़वादी होड़ आदि से भरे संसार में प्रविष्ट हो गया। तपोवन की शान्ति को छोड़कर हिंस्र-पशुओं से भरे जंगल में मानो प्रवेश कर रहा था। कुछ धातुओं के टुकड़ों पर—जग-सी जमीन पर—एक-दूसरे से लड़ते-लड़ते मर मिटने तक को तैयार होने वाले मानव-रूपी प्राणियों से भरा यह संसार, आचार्य श्री के अपरिग्रह, परीषह-सहन एवं निःस्वार्थ सहृदयता पूर्ण तपाश्रम की तुलना में मुझे जंगल ही प्रतीत हुआ।

"यह तुम मेरी जगह पर बैठ गये हो।"

"अरे वह मेरा बिस्तर है, उस पर क्यों खड़े हो?"

"यह किसका सामान है भाई। मेरी पेटी से हटा लो, वरना उठाकर फेंक दूंगा।"

"भाई खिड़कियां सब बन्द कर दो, डिब्बे में किसी को घुसने न दो।"

रास्ते भर रेल में ऐसी ही बातें सुनने में आ रही थीं।

जहां देखो लोग जल्दी में थे, "मुझे फलां तारीख तक वहां पहुंचना है।" सब की जबान पर यह वाक्य था।

ऐसा लगता था कि लोग कहीं भागे जा रहे हैं। सब को जल्दी थी। सबको अपनी-अपनी पड़ी थी। औरों के सुख-दुःख की तरफ आंख उठाकर देखने की फुर्सत ही किसे थी?

पर लोग भाग कहां रहे हैं? कहां पहुंचने के लिए इतनी जल्दी है? इतनी व्यस्तता काहे की?

इसका उत्तर कोई नहीं जानता।

दौड़-धूप किसलिए?

क्या, सुख की प्राप्ति के लिए यह दौड़-धूप की जा रही है? कहीं ज्वर-दग्ध मस्तिष्क सुखका अनुभव या, कल्पना भी कर सकता है?

विश्वकवि रवि बाबू की एक कविता है जिसका आशय यह है—"मैंने अपने चारों तरफ दीवालें खड़ी कीं। धीरे-धीरे उनको इतना ऊंचा बनाया कि बाहर का प्रकाश एकदम रुक गया। अब मैं चिल्ला-चिल्ला कर रो रहा हूं, "प्रकाश कहां छिप गया? हे ईश्वर! प्रकाश कहां छिप गया?"

आज के जड़वादी युग में प्रायः सभी मानवों की—यही दशा है। हमने अज्ञान, अहंकार एवं जड़वादी मोह की इतनी भारी भित्तियां अपने चारों तरफ खड़ी कर ली हैं कि प्रकाश की कोई किरण भी उसमें प्रवेश नहीं कर पाती। यह गाढ़ान्धकार आज विश्वभर में व्याप्त है।

अलौकिक ज्योति

उस निबिड़ अन्धकार में आचार्य श्री शान्तिसागर जी महाराज का निर्मल तपोमय

व्यक्तित्व एवं विशुद्ध त्यागी जीवन अलौकिक ज्योति की भांति चमक रहा था उस ज्योति से सभी ने लाभ भी उठाया। सबको वह सन्मार्ग प्रदर्शित कर रही थी। पतित मानव जाति के उद्धार की आशा ऐसे ही तपस्वी पुरुपों के जीवन से प्राप्त होती है।

आचार्य श्री की एक सौ इकतीस वीं जन्म जयंती संयम वर्प के रूप में मनाते समय दिगम्बर जैन समाज को तथा इतर भक्तों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए, यह दृढ़ संकल्प कर लेना चाहिए कि आचार्य महाराज के उज्ज्वल आचरण एवं स्फूर्तिप्रद उपदेशों का अधिक-से-अधिक व्यापक प्रचार किया जाय। इस पवित्र ज्योति को दूर-दूर तक फैलाया जाय ताकि सब उस प्रकाश से लाभ उठाकर अपने जीवन का उद्धार कर सकें।

परमपूज्य राष्ट्र संत सिद्धांत चक्रवर्ती आचार्य गुरुदेव श्री विद्यानंद जी महाराज की प्रेरणा से पावन प्रेरणा से यह एक सौ इकतीस (131) वी जन्म जयंती संयम वर्ष के रूप में मनाना तभी सार्थक होगा।

●●●

विणएण विप्पहीणस्य, हवदि सिक्खा णिरत्थिया सव्वा।
विणओ सिक्खाए फलं, विणय फलं सव्व कल्लाणं ॥385॥ मू०
विणओ मोक्खद्दारो, विणयादो संजमो तवो णाणं।
विणएणाराहिज्जदि आइरिओ सव्व संघो य ॥386॥ मू०

वट्टकेराचार्य प्रणीत मूलाचार से-

अर्थ–जो विनय से हीन है उसकी सर्व शिक्षा व्यर्थ है, विनय ही शिक्षा का फल है, विनय से ही सर्व कल्याणों की प्राप्ति संभव है ॥385॥ विनय मोक्ष का द्वार है, विनय से ही संयम, तप एवं ज्ञान की प्राप्ति होती है। विनय से ही आचार्य एवं सर्व संघ आराधित/वंदित होता है।

मुक्तिमार्ग के ये पथिक

मुक्ति-मार्ग कण्टकाकीर्ण है। उस पर चलने का साहस केवल ऐसे ही व्यक्तियों में हो सकता है, जो वासना की कैंचुली को उतारकर फेंक चुके हों, स्वर्ण एवं कंकड़ को समान दृष्टि से देखते हों, कष्ट होने पर दुःख और सुख होने पर हर्ष अनुभव नहीं करते हों, समस्त जीव-राशियों के प्रति अहिंसा और हार्दिक दया का अनुभव करते हों और मन, वचन एवं काय को हर प्रकार से शुद्ध एवं सत्यमय रखने के लिए सदैव सचेष्ट रहते हों। यही कारण है कि जैन धर्म में साधुओं के लिये 28 मूल गुण आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य माने गये हैं। प्रस्तुत लेख में इन मूल गुणों का विशद एवं प्रामाणिक वर्णन, अत्यन्त सरल एवं रोचक शैली में किया गया है।

मुनि-मार्ग

जब किसी मुनष्य का चित्त संसार से विरक्त हो जाता है उस समय उसको गृहस्थाश्रम में एक क्षण भी ठहरना दूभर दीखता है। जिस सुन्दर स्त्री के मोह में, सुशील पुत्र के स्नेह में सारा संसार (बिना किसी बाहरी बन्धन के) बन्धा रहता है, वह पुत्र-स्त्री का प्रेम उस विरक्त पुरुष के हृदय से दूर हो जाता है और इसी कारण वह उनके सम्पर्क से दूर रहना ही अच्छा समझता है। सांसरिक विषय-भोग उसको आत्मघाती विषय के समान प्रतीत होते हैं। उस समय वह मनुष्य अपने गृहस्थाश्रम के सभी कामों का परित्याग कर सांसारिक झंझटों से दूर रहना ही श्रेयस्कर समझता है।

तदनुसार अपना सब कार्य अपने उत्तराधिकारी पुत्र, पौत्र भाई आदि को सौंपकर स्वयं घर के सब कार्यों से निश्चिन्त होकर किसी दीक्षाचार्य के निकट जा पहुंचता है और निवेदन करता है कि–

गुरुदेव! मेरा चित्त संसार के विषमय विषम विषयों से बिल्कुल उचट गया है, इसी कारण मैं अपने गृहस्थाश्रम का समस्त कार्यभार अपने पुत्र को सौंपकर

घर से निश्चिन्त हो आया हूं। अब मैं आपके चरणों में रहकर आत्मशुद्धि करना चाहता हूं, मुझे मुनि-दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लीजिये।

तब दीक्षाचार्य इस बात को जांच करके कि 'यह व्यक्ति सचमुच संसार से विरक्त है या किसी ऋण (कर्ज), अपवाद, दण्डनीय, अपराध, बदनामी आदि से बचने के लिए साधु होना चाहता है। इस बात का निर्णय कर लेता है कि यह सचमुच शुद्ध हृदय से साधु बनना चाहता है तथा इसका शरीर भी उन दोषों से शून्य है, जो कि एक नग्न साधु में नहीं होने चाहिये। तब वे उस मनुष्य को मुनि-रूप में दीक्षित करते हैं।

दीक्षित मनुष्य साधु बनते समय अपने शरीर के समस्त वस्त्र उतार कर सदा के लिये छोड़ देता है। काम-वासना पर वह इतना बड़ा नियन्त्रण करता है कि स्त्रियों को देखकर उसके मन में जरा भी काम-भाव जाग्रत नहीं होता। इसी कारण उसकी पुरुपेन्द्रिय में कोई विकार नहीं आ पाता। वह अपने सिर, मूंछ, दाढ़ी के बाल अपने हाथों से ही उघाड़ लेता है, केशों को उखाड़ते समय जो पीड़ा होती है उसको बहुत शान्ति और धैर्य से सहन करता है।

अपनी दैनिक चर्या के लिये उस समय वह केवल तीन चीजें अपने पास रखता है—2. शास्त्र, 2. पीछी, 3. कमण्डलु। ज्ञान अभ्यास के लिये शास्त्र ग्रहण करता है, किसी स्थान पर बैठते समय, सोते समय तथा अपने कमण्डलु, शास्त्र रखते समय उस स्थान के चींटी आदि जन्तुओं को सुरक्षित रूप से हटाने के लिये मोर के पंखों से बनी हुई पीछी से काम लिया करता है तथा टट्टी-पेशाब (शौच-लघु शंका) करने के बाद शौच के लिये जल की आवश्यकता होती है, उसकी पूर्ति कमण्डलु से होती है, कमण्डलु में गृहस्थों द्वारा दिया हुआ शुद्ध जल भरा रहता है।

साधु के 28 मूल-गुण

साधु चर्या के आधारभूत 28 आचरणीय नियम (आजन्म पालनीय) होते हैं, उनको मूल-गुण कहते हैं। वे गुण महाव्रत, समिति, इन्द्रियजय, आवश्यक और शेष गुणों के भागों में विभक्त हैं, इनके ही उत्तर-भेद 28 हैं।

महाव्रत

हिंसा, असत्य, चोरी, काम-सेवन और परिग्रह का सर्वथा त्याग करना महाव्रत है। महाव्रत के 5 भेद हैं—

1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अचौर्य, 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह।

अहिंसा महाव्रत

मन, वचन, काय से समस्त जीवों की रक्षा करना अहिंसा महाव्रत है।

प्रत्येक प्राणी—वह चाहे मनुष्य हो या पशु, छोटा हो या बड़ा—सदा अपना शान्त सुखी जीवन चाहता है। किसी भी मूल्य पर कोई जीव अपने प्राण नहीं देना चाहता, अतः जीव-रक्षा या अहिंसा सबसे बड़ा पुनीत व्रत है, अहिंसा के आचरण किये बिना धार्मिक भावना अंकुरित नहीं हो सकती।

यद्यपि धार्मिक गृहस्थ भी अहिंसा का आचरण करता है किन्तु परिस्थिति-वश वह अहिंसा का पूर्ण आचरण नहीं कर सकता। व्यापार करने में, परिवार के पालन-पोषण में, परिवार धन-रक्षण में, शत्रु-चोर-दुष्ट से लड़ने-भिड़ने में, आत्म-रक्षा, धर्म-रक्षा में तथा घर के काम-काज करने में एवं गज-काज में गृहस्थ से प्रायः सूक्ष्म जीव-हिंसा तो होती ही रहती है, कभी-कभी स्थूल जीव हिंसा भी हो जाती है, इससे वह जीव-हिंसा से सर्वथा मुक्त नहीं रह सकता।

किन्तु घर गृहस्थाश्रम के संसर्ग से सर्वथा दूर रहने वाले साधु से ऐसी कोई जीव-हिंसा नहीं होती, क्योंकि न वे कुछ धन-उपार्जन करते हैं और न उनके पास कुछ धन संचित होता है तथा न उनके आश्रित कोई और जीव होता है, जिसकी रक्षा या पालन-पोषण का भार उनके ऊपर हो। अतः वे जगत के सभी जीवों की हिंसा से सर्वथा दूर रहते हैं। तदनुसार मुनि महाराज सभी को अभयदान देते हैं, इसी का नाम अहिंसा महाव्रत है।

यदि कोई मनुष्य किसी क्रोध, मद, प्रलोभन, द्वेष, घृणावश ऐसे अहिंसक साधुओं को शारीरिक या मानसिक कष्ट देवे अथवा कोई पशु उन पर आक्रण करके उनको शारीरिक हानि पहुंचावे तो वे उससे न तो कोई बदला लेते हैं, न मन में उससे लड़ने-भिड़ने या उसको हानि पहुंचाने का विचार करते हैं और न उस उपद्रव या कष्ट से अपनी शान्ति-वृत्ति का भंग होने देते हैं। यहां तक कि मुख से भी उसको कोई अपशब्द या श्राप नहीं देते।

तदनुसार मृत्युदायक कष्ट या उपद्रव आ जाने पर भी वे शान्तचित्त, आत्मरत, निश्चल, निर्भय रहते हैं। अपने पूर्व-संचित कर्म के फल-स्वरूप उस उपद्रव को

मानकर ऐसा विचार करते हैं कि "मेरा पूर्व-संचित अशुभ कर्म इस तरह कुछ दुख देकर मुझसे दूर हो गया।" सुख-दुख अपने संचित कर्म अनुसार मिलता है, अतः दुख देने वाला यह मनुष्य या पशु नहीं है, मेरा ही पूर्व उपार्जित अशुभ कर्म है।"

ऐसे आध्यात्मिक विचारों से साधु क्रोध, क्षोभ पैदा नहीं होने देते, अपनी शान्ति स्थिर रखते हैं।

इसके सिवाय मुनि महाराज अपने आहार, विहार, उठना, बैठना, सोना, उठाना, रखना आदि सभी कार्य ऐसी सावधानी से करते हैं, जिससे उस समय किसी सूक्ष्म जीव को भी कष्ट नहीं होने पाता।

इस प्रकार साधु महाराज मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसाव्रत का निर्दोष आचरण करते हैं अतः उनके अहिंसा पालन को अहिंसा महाव्रत कहते हैं।

सत्य महाव्रत

प्रामाणिक, हितकारी, यथार्थ वचन कहना सत्य महाव्रत है।

भ्रम, अविश्वास, विपर्यास, धोखा उत्पन्न करने वाले, दुखदायक वचनों का प्रयोग असत्य वचन कहलाता है। असत्य वचन से पहले अपने स्वच्छ सात्विक भावों की हिंसा होती है तदनन्तर सुनने वाले व्यक्ति को आर्थिक हानि, शारीरिक कष्ट तथा मानसिक पीड़ा होती है, इस दृष्टि से असत्य वचन स्व-परहिंसा का साधक है।

दया का अक्षय भंडार मुनि महाराज अपने मुख से कोई भी शब्द ऐसा नहीं निकालते जिससे किसी को धोखा मिले, भ्रम पैदा हो, विश्वासघात की समस्या उपस्थित हो, किसी तरह की हानि हो अथवा मन को क्लेश हो।

गृहस्थाश्रम में गृहस्थ मनुष्य को सावधानी रखते हुए भी परिस्थितिवश व्यापार में, व्यवहार में, परिवार में अनेक बार प्रतिदिन असत्य बोलना ही पड़ता है, कड़े शब्द भी कहने पड़ते हैं, डांटना-फटकारना भी पड़ता है, मनोरंजनार्थ बच्चों को बहलाने के लिये जानबूझ कर झूठ बोलना भी पड़ता है, अतः गृहस्थ का सत्यवादी बना रहना बहुत कठिन है।

किन्तु मुनिराज ऐसी परिस्थिति से सर्वथा दूर हैं, उनका किसी के साथ कोई भी आर्थिक लेन-देन का सम्बन्ध नहीं होता, न उनका किसी के साथ कुछ शारीरिक सम्बन्ध ही है, फिर वे असत्यवचन व्यवहार क्यों करें?

इसके सिवाय लोग अज्ञान वश (अज्ञानकारी से) भी असत्य बोल देते हैं यद्यपि मुनि महाराज भी त्रिकालज्ञ पूर्णज्ञानी नहीं होते, अतः वास्तव में ज्ञान की कमी उनमें भी पाई जाती है, किन्तु वे अल्पज्ञानवश भी असत्य नहीं बोला करते। जिस बात का उन्हें यथार्थ परिचय नहीं होता, उसका प्रतिपादन अभ्रान्त रूप से वे करते भी नहीं। शास्त्रीय सैद्धान्तिक विषय में तो जो बात उनको ज्ञात न होवे उस विषय में वे स्पष्ट कह देते हैं कि 'यह विषय हमको ठीक मालूम नहीं है।' जानबूझ कर शास्त्र-विरुद्ध कोई भी बात नहीं कहते। इस प्रकार पूर्ण सत्यव्रत का आचरण साधु ही कर पाते हैं, अतः उनका वचन व्यवहार सत्य महाव्रत कहा जाता है।

अचौर्य महाव्रत

किसी भी व्यक्ति की मिट्टी, तिनका आदि तुच्छ वस्तु को भी बिना पूछे ग्रहण न करना अचौर्य महाव्रत है।

सांसारिक गृहस्थ मनुष्य अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल वस्त्र, रुपया, पैसा आदि वस्तुओं को बहुत परिश्रम से एकत्र करता है। घास तिनका, मिट्टी गोबर, पानी जैसे पदार्थ भी आवश्यकतानुसार उसके काम आते हैं, अतः उनका भी संग्रह गृहस्थ व्यक्ति करता है। उन पदार्थों के साथ उसकी मोह-ममता हो जाती है, अतः यदि कोई मनुष्य उसकी वस्तु चुरा लेता है तो उसको बहुत दुख होता है, इस मार्मिक दुख पहुंचने के कारण चोरी को बुरा पाप माना गया है।

महाव्रती साधु रुपया, पैसा आदि कोई भी वस्तु अपने पास नहीं रखते हैं, न उनको इन वस्तुओं से कुछ मोह होता है, न वे चीजें उनके किसी काम आती हैं, अतः उनको किसी की भी कोई भी चीज छूने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये वे किसी की कोई वस्तु नहीं उठाते, गृहस्थ लोग मिट्टी पानी आदि जिन सर्व-साधारण वस्तुओं के बिना किसी के पूछे-ताछे कुएं नदी तालाब, खान आदि से ले आते हैं, ऋषि लोग ऐसे सर्व-साधारण वस्तु को भी बिना किसी के स्वेच्छा से दिये नहीं ग्रहण करते।

लोभ से मुक्त

इसका कारण यह है कि जिन अन्तरंग कारणों से प्रेरित होकर मनुष्य चोरी करते हैं साधु उन अन्तरंग कारणों से भी बचे रहते हैं।

चोरी करने में मुख्य कारण लोभ है। आर्थिक लोभ से प्रेरित होकर ही प्रायः यह महापाप किया जाता है। किन्तु गृहस्थाश्रम से दूर रहने के कारण साधुओं को आर्थिक लोभ रंच मात्र भी नहीं होता है।

ईर्ष्याद्वेष के कारण किसी को हानि पहुंचाने के अभिप्राय से भी चोरी की जाती है, सो मुनियों को किसी के साथ ईर्ष्या द्वेष भी नहीं होता, जिसके कारण वे किसी की कोई वस्तु उठाने का यत्न करें।

अथवा हास्य (हंसी) रूप में, किसी को मजाक में तंग करने के लिये भी लोग दूसरे की चीज इधर-उधर कर देते हैं, सो मुनि महाराज किसी के साथ ऐसा हंसी-मजाक कौतुहल भी नहीं किया करते।

अतः मुनियों के पास चोरी का कोई भी निमित्त नहीं होता।

वे जहां कहीं कुछ समय के लिए ठहरते हैं, वह स्थान प्रायः ऐसा होता है जिस पर किसी व्यक्ति विशेष का स्वामित्व नहीं होता। जंगल, पर्वत, गुफा, मठ, श्मशान, नदी तट आदि निर्जन स्थानों पर वे ठहरते हैं। ऐसे निर्जन स्थान न किसी एक व्यक्ति के होते हैं, न ऐसे स्थानों पर ठहरने के लिये राज्य की ओर से कोई निषेध होता है तथा वे जहां ठहरतेहैं यदि उनके पास वहां आकर कोई और मनुष्य ठहर जावे, तो वे साधु उस आगन्तुक व्यक्ति को वहां ठहरने से रोकते भी नहीं।

निर्जन शून्य स्थानों में कोई भी ऐसा पदार्थ नहीं होता जिसको उठाने, ग्रहण करने का विचार मुनि के हृदय में उत्पन्न हो सके।

ब्रह्मचर्य महाव्रत

स्त्री मात्र से शारीरिक, वाचनिक तथा मानसिक मैथुन-सेवन का त्याग ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

काम-वासना एक ऐसा दुर्जय विकार है जिस पर विजय प्राप्त करना अन्य आध्यात्मिक नियमों की अपेक्षा अधिक कठिन है संसार के समस्त प्राणी, वे चाहे पशु हों या मनुष्य, काम-वासना की मार से अनेक अकार्य कर बैठते हैं। काम-वासना का विचार आते ही समस्त सद्विचार लुप्त हो जाते हैं, स्वप्न में भी आया हुआ काम-विकार वीर्यपात करा देता है। विषयवासना का भूत जिस समय सवार होता है, उस समय मनुष्य मृत्यु से भी जूझकर अपनी लालसा तृप्त करने के लिये तैयार हो जाता है।

मुनि महाराज इस दुर्जेय विषय-वासना पर ऐसा कठिन अंकुश लगाते हैं कि निकट में आई हुई स्त्रियोंको देखकर भी उनके मनको कामवासना छूने नहीं पाती जिसका स्पष्ट प्रमाण प्रत्येक व्यक्ति को उनके नग्न निर्विकार शरीर से मिलता है।

मन से जरा भी विषयवासना का विचार आते ही मनुष्य को काम-इन्द्रिय पर उसकी उत्तेजना प्रगट हो जाती है, उस उत्तेजना को गुप्त रखने के विचार से ही मनुष्य अधोवस्त्र-धोती, लंगोटी, पाजामा आदि पहना करते हैं। किन्तु मुनि ऐसा कोई कपड़ा नहीं पहनते उनका समस्त शरीर बिल्कुल नंगा होता है, अतः मुनियों के मन में यदि काम-विकार जाग्रत हो तो उनकी इन्द्रिय पर आई हुई उत्तेजना को प्रत्येक व्यक्ति सुगमता से जान सकता है। इस कारण मुनियों का अडिग ब्रह्मचर्य उनके नग्न निर्विकार शरीर से प्रगट होता रहता है।

कठोर नियमों का पालन

मुनि महाराज अपने ब्रह्मचर्य महाव्रत को निर्दोप रखने के लिये निम्नलिखित नियमों का कठोरता से आचरण करते हैं–

1. एकान्त में स्त्रियों से वार्तालाप नहीं करते।
2. स्त्रियों को अपना चरण स्पर्श भी नहीं करने देते।
3. स्त्रियों के आसन पर नहीं बैठते।
4. रात्रि समय स्त्रियों को अपने निकट नहीं आने देते।
5. कागज पर बने स्त्रियों के चित्रों को देखकर, पत्थर, मिट्टी, लकड़ी आदि की बनी हुई स्त्री को देखकर मन विकृत नहीं करते।
6. काम-वर्द्धक भोजन करने का त्याग कर देते हैं।
7. स्त्री-सम्बन्धी बातचीत न करते हैं, न सुनते हैं।

ब्रह्मचारी का मन स्वच्छ रहता है, बुद्धि तीक्ष्ण होती है, उसके मुख तथा वचन से प्रभाव झलकता है, समस्त व्रत, तप, संयम निर्दोष रहते हैं, अनेक ऋद्धियां सिद्धियां प्राप्त होती हैं।

अपरिग्रह महाव्रत

संसार के समस्त पदार्थों से ममत्व (अपनापन) भाव न करना अपिरग्रह महाव्रत है।

सोना चांदी, रत्न, मकान, गाय भैंस, घोड़ा, मोटर, जमीन, वस्त्र, आभूषण, बर्तन आदि पदार्थों से गृहस्थ मनुष्य अनेक प्रकार के अपने वैषयिक सुखसाधन जुटाता है, इसी कारण वह अपने जीवन का बहु-भाग इन पदार्थों का संचय करने में खर्च कर डालता है तथा उन अचेतन-चेतन पदार्थों को अपना समझ बैठता है। इसी कारण जो व्यक्ति उन पदार्थों के संग्रह में, वृद्धि में, रक्षण में सहायता प्रदान करता है उसको अपना हितकारी मित्र मानकर उसके साथ प्रेम व्यवहार करता है और जो व्यक्ति उन पदार्थों को जरा भी हानि पहुंचाता है उसको अपना शत्रु समझकर उससे द्वेष ठान लेता है।

असंख्य सुन्दर पदार्थों का समागम रहते हुए भी यदि विवेकी पुरुष उनके मोह से अछूता रहे, भरत सम्राट के समान उनसे ममता न जोड़े, उनको पर-पदार्थ ही समझे, तो वे पदार्थ उसके आत्ममनन में कुछ बाधा नहीं डालते, उनके संयोग से उसको कुछ हर्ष नहीं हो सकता और उनके वियोग से उसके हृदय में कुछ सन्ताप नहीं हो सकता, उस दशा में वह अमित धनराशि भी उस आध्यात्मिक व्यक्ति के लिये परिग्रह नहीं है।

जिस दीन दरिद्र के पास एक भी पैसा नहीं, किन्तु शेखचिल्ली की तरह जो लक्षपति, कोटिपति बनने के हवाई कोट निर्माण किया करता है, उठते-बैठते, सोते-जागते, सदा जिसके चित्त में धन संचय की लहरें लहराती रहती हैं, वह व्यक्ति अकिंचन होता हुआ भी मानसिक परिग्रह के कारण महापरिग्रही है।

महाव्रती साधु इस परिग्रह का समूल त्याग कर देते हैं, जिन दूषित विचारों के कारण सांसारिक पदार्थों से ममता उत्पन्न होती है उन लोभ राग आदि भावों का मुनिराज नियम पूर्वक त्याग कर देते हैं जिससे कि सोने-चांदी की ओर उनकी लालसा ही जागृत नहीं होती, रुपये-पैसे को हाथ से छूते भी नहीं, अपने शरीर से भी उनकी मोहकामना नहीं होती, इस कारण उनका परिग्रह-परित्याग साधारण व्रत नहीं किन्तु महाव्रत कहलाता है।

समिति

मुनि महाराज अपनी वाचनिक तथा शारीरिक क्रिया बहुत सावधानी से किया करते हैं। इसी को समिति कहा जाता है।

समिति के 5 भेद हैं—1. ईर्या, 2. भाषा, 3. एषणा, 4. आदान निक्षेपण, 5. उत्सर्ग।

ईर्या समिति

चलने-फिरने में सावधानी रखना 'ईर्या समिति' है।

मुनि चलते समय स्व-रक्षा, पर-रक्षा दोनों का ध्यान रखते हैं। मार्ग में कांटे, कांच के टुकड़े, लोहे की कील, नुकीली लकड़ी, जलता हुआ अंगार, चिनगारी आदि चीजें पड़ी होती हैं, ईंट पत्थर पड़े होते हैं छोटे-बड़े गड्ढे होते हैं, कीचड़, पानी भरा होता है तथा सर्प, बीच्छू आदि जीव-जन्तु भी कभी-कभी आ जाते हैं। असावधानी से चलने पर कांटा, कांच आदि पैर में चुभ सकता है, सर्प बिच्छू डंक मार सकते हैं। ईंट पत्थर से ठोकर लग जाती है, पानी कीचड़ में पैर सन सकते हैं, इत्यादि अपने शरीर को हानि पहुंच सकती है। सावधानी से देख-भालकर चलने में इन विपत्तियों से रक्षा हो जाती है।

और फिर मार्ग में—सड़क या पगडंडी पर कभी-कभी चींटी, चींटे, कीड़े-मकोड़े, गेंडुआ, गिंजाई, लट आदि छोटे जीव-जन्तु आ जाते हैं, वर्षा के दिनों में सैकड़ों प्रकार के कीड़े-मकोड़े इधर-उधर घूमते-फिरते हैं, छोटे-छोटे मेंढक फुदकते फिरते हैं, ऐसी दशा में आते-जाते समय यत्नाचार न रखा जावे तो वे छोटे जीव-जन्तु पैरों के नीचे आकर कुचल कर मर जाते हैं। इस तरह जीवों की हिंसा होती है। सावधानी से देखभाल कर चलने में जीवों का घात नहीं होता। इस तरह ईर्या समिति से स्वरक्षा और पररक्षा होती है।

इसके लिये—

1. मुनि उस मार्ग पर चलते हैं जिस पर लोगों का आवागमन होता रहता है, क्योंकि ऐसे मार्ग पर चींटी आदि जीव-जन्तु नहीं होते।

2. मुनि दिन में ही अच्छे प्रकाश के समय विहार करते हैं।

3. चलते समय अपनी दृष्टि इधर-उधर न रखकर, पृथ्वी की ओर ही रखते हैं, चार हाथ आगे की भूमि देखभाल कर चलते हैं।

4. भूमि पर यदि उनको जीव-जन्तु दीख पड़ता है तो उससे बचकर निकल जाते हैं।

5. यदि बचकर निकलने का स्थान न हो तो अपनी पीछी के द्वारा उन जीवों को हटाकर मार्ग स्वच्छ कर चलते हैं।

सारांश यह है कि आने-जाने में ऐसा यत्न तथा सावधानी रखते हैं जिससे किसी जीव-जन्तु को कष्ट नहीं होता।

भाषा समिति

हित-मित-प्रिय वचन बोलना भाषा समिति है।

वचन का प्रयोग यदि ठीक रूप से हो, तो उनके द्वारा सुख-शांति-सन्तोष का प्रसार हो सकता है और बातचीत में सावधानी न रखी जावे तो वचन से ही भ्रम, अविश्वास, मारपीट, विवाद अशान्ति और क्षोभ फैल सकता है। इस कारण बोल-चाल में बहुत सावधानी रखने की आवश्यकता है।

इसके लिये मुनि महाराज बोलते समय यह ध्यान रखते हैं कि उनके मुख से जो भी शब्द निकले, वह हितकर हो। मुनि महाराज समस्त प्राणियों के हित-इच्छुक होते हैं, अपने घातक व्यक्ति का भी अहित नहीं चाहते, जो प्राणी उनसे द्वेष, घृणा, ईर्ष्या करते हैं तथा मुनि महाराज का अपमान तिरस्कार करते हैं, उनके लिये भी उनके हृदय में अशुभ-अहितकर भावना नहीं होती। वे विश्वमित्र होते हैं, अतः उनके मुख से जो भी शब्द बाहर आते हैं उनमें सुनने वालों का हित ओत-प्रोत (भरा) रहता है।

वचन की उपयोगिता के लिये दूसरी बात आवश्यक है 'परिमित बाणी'। तदनुसार मुनि महाराज बहुत कम बोला करते हैं, थोड़े शब्दों में अपना वक्तव्य दिया करते हैं, निष्प्रयोजन (बेमतलब) जरा भी नहीं बोलते।

बातचीत के समय तीसरी बात यह ध्यान में रखना उचित है कि बोलने में मीठे शब्दों का प्रयोग हो, कटु शब्द न हो। कटु शब्दों से सुनने वालों का हृदय दुखता है और मीठे शब्दों से श्रोता का चित्त प्रसन्न होता है, वह प्रभावित तथा आकर्षित होता है। अतः मुनिगण ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं जो सुनने वाले के कानों को अमृत के समान सुखप्रद होती है।

इस प्रकार हित मित प्रिय शब्दों का व्यवहार भाषा समिति कहलाती है।

एषणा-समिति

शारीरिक स्थिति के लिये शुद्ध निर्दोष भोजन करना एषणा समिति है।

साधुओं को शरीर से कुछ मोह नहीं होता, वे तो शरीर को आत्म-शुद्धि का एक साधन समझते हैं, अतः वे आत्मध्यान, स्वाध्याय आदि आत्म-उपयोगी कार्य अपने शरीर से नियमानुसार अधिक-से-अधिक लिया करते हैं, किन्तु उसके लालन पालन, पोषण आदि की ओर ध्यान नहीं देते।

फिर भी यह शरीर अन्न का कीट है, बिना भोजन किये यह आत्म-उपयोगी कार्य भी नहीं कर सकता इसलिये इसको थोड़ा-बहुत भोजन देना आवश्यक रहता है। इसी दृष्टि से साधु स्वाद न लेते हुए थोड़ा-सा साधारण भोजन किया करते हैं।

भोजन भी वे बड़ी निःस्पृहता के साथ लेते हैं, उनके कुछ नियम ऐसे होते हैं जिनके अनुसार ठीक संयोग बन गया तो उनका भोजन हो जाता है, अन्यथा भोजन नहीं हो पाता।

भोजन के लिये वे दिन के दूसरे प्रहर में बाहर निकलते हैं उनके भक्त अपने द्वारपर उनकी प्रतीक्षा में खड़े रहते हैं, यदि साधुओं के मनोनीत नियम के अनुसार ठीक विधि मिल गई तो वहां उनका भोजन हो जाता है।

जो मनुष्य नीच-कुली हो, शराबी हो, मांसभक्षी हो, हीनाचारी हो, दीन, दरिद्री हो, जहां पर किसी की मृत्यु हुई हो, जहां कोई रो रहा हो, अग्नि लगी हो, कोई उपद्रव हुआ हो वहां साधु भोजन नहीं करते, किसी यज्ञशाला, सार्वजनिक भोजनशाला में भी भोजन नहीं लेते।

किसी के निमन्त्रण देने पर भोजन करने नहीं जाते, यह जान लेने पर कि अमुक घर में मेरे लिए भोजन बनाया गया है, वहां भोजन नहीं करते, स्वयं भोजन कराने के लिये किसी को कहते नहीं, न कोई ऐसा संकेत करते हैं कि मुझको भोजन कराओ—मैं भूखा हूं। भोजन कराने में जो कष्ट अनुभव करे या दूसरे के यहां से लाकर भोजन कराना चाहे उसके यहां भी **भोजन नहीं करते।**

जैसे मधुमक्खी फूलों को कष्ट न पहुंचाते हुए फूलों से मधु (रस) संचित करती है, उसी तरह मुनिराज गृहस्थ को बिना कुछ कष्ट पहुंचाये शुद्ध भोजन करते हैं।

भोजन 32 ग्रास (कौर) से अधिक नहीं करते। वे आधा उदर भोजन से और चौथाई उदर पानी से भरकर चौथाई उदर खाली रखते हैं।

कोई त्याग किया हुआ पदार्थ बिना जाने खाने में आ जावे, भोजन करते समय यदि भोजन में बाल, जूं, मक्खी आदि निकल आवे, अपने या अन्य के शरीर से खून पीप निकलती दीख जावे, वमन हो जावे, भोजन कराने वाले के हाथ से भोजन छूटकर भूमि पर गिर जावे, किसी बच्चे या स्त्री-पुरुप के रोने का शब्द सुनाई दे, किसी मृतक व्यक्ति की अर्थी जाती जान पड़े, कोई मार पीट लड़ाई-झगड़े का शब्द सुनाई पड़ जावे तो मुनि भोजन करना छोड़ देते हैं।

सारांश यह है कि त्याज्य दोषों से रहित शुद्ध भोजन जब कहीं संयोग से प्राप्त हो जाय तब वे निःस्पृह भाव से अपनी भूख से कम भोजन ग्रहण करते हैं। यह एषणा समिति है।

आदान निक्षेपण

अपने पास की वस्तुओं को देखभाल कर सावधानी से रखना और उठाना आदान निक्षेपण समिति है।

मुनि महाराज अपने पास केवल तीन वस्तु रखते हैं—1. शास्त्र, (ज्ञानोपकरण) 2. पीछी, (संयमोकरण) 3. कमण्डलु, (शोचोपकरण) इनके सिवाय और कोई चीज उनके पास नहीं होती।

जिस स्थानपर वे इन चीजों को रखते हैं उस स्थान को पहले पीछी से साफ कर लेते हैं, जिससे कोई चींटी आदि क्षुद्र जन्तु कमण्डलु या शास्त्र के नीचे दब न जावे।

इसी तरह जब उन चीजों को उठाते हैं, तब पीछी से उनको पोंछ लेते हैं जिससे उनपर यदि कोई सूक्ष्म कीट कृमि आ गया हो तो उठाते समय हाथ की रगड़ से क्षत-विक्षत न हो जावे।

पीछी मोर के पंखों की बनी हुई बुहारी-सी होती है। मोर जिससमय जंगल में अपने पंख फैलाकर नाचता है, तब उसकी पूंछ से कुछ पंख जमीन पर गिर जाते हैं, आस-पास के आदमी उनको उठाकर ले आते हैं। उन्हीं पंखों को मिलाकर पीछी बनाई जाती है।

पीछी मोर के पंखों की ही क्यों?

पीछी सूत की या ऊन आदि की भी बनाई जा सकती है, किन्तु जो विशेषता मोर के पंखों की पीछी में होती है वह और किसी पदार्थ की बनी हुई पीछी में नहीं आ सकती। मोर के पंख में दो विशेष उपयोगी बातें होती हैं—1. कोमलता, 2. प्रासुकता।

मोर का पंख बहुत कोमल (नर्म) होता है, अतः उसकी पीछी से यदि सूक्ष्म जीवों को हटाया जाय तो उनको जरा भी कष्ट नहीं होता।

ऊन आदि में कीड़े पैदा हो जाते हैं, किन्तु मोर के पंख में कभी किसी भी जीव की उत्पत्ति भी नहीं होती। अतः मोर के पंखों से बनी हुई पीछी ही जीव रक्षा की दृष्टि से विशेष उपयोगी रहती है।

मयूर के पंखों से बनी पीछी में पाँच गुण और पाये जाते हैं। (1) धूल से अलिप्त, (2) पसीना को ग्रहण नहीं करती, (3) लघुता, (4) मार्दवता, (5) ऋजुता।

इस तरह जीव रक्षा करते हुए शास्त्र पीछी-कमण्डलु को सावधानी से कहीं पर रखना या उठाना आदान निक्षेपण समिति है।

उत्सर्ग समिति

अपने शरीर का मल-मूत्र, थूक आदि ऐसे स्थान पर डालना जहां पर कि चींटी आदि जीव-जन्तु न हों, उत्सर्ग समिति है।

बिना देखे-भाले, चाहे जहां टट्टी पेशाब (शौच व लघु शंका) कर देने से चींटी, मक्खी आदि जीव-जन्तु उसकी लपेट में आकर फंस जाते हैं, मर जाते हैं तथा चाहे जहां थूक देने से भी इसी प्रकार जीवहिंसा हो जाती है। एवं नाक सिनकते समय भी यदि जगह को देखा-भाला न जाय तो उससे भी मक्खी चींटी आदि मर सकती हैं।

इस कारण अपने शरीर के इन सब मैलों (मलों) को मुनि निर्जन्तु भूमि पर क्षेपण किया करते हैं। इसका नाम मल-उत्सर्ग समिति है।

इन्द्रिय-विजय

आत्म नियन्त्रण के लिये अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करना 'इन्द्रिय विजय' है।

समस्त संसार इन्द्रियों का दास बना हुआ है, इसी इन्द्रिय-दासता के कारण विषय भोगों में लिप्त रहकर मनुष्य आयु का अमूल्य समय नष्ट हो जाता है, आत्म-शुद्धि का उपयोगी कार्य कुछ भी नहीं हो पाता। साधु महाराज अपने स्वतन्त्र आध्यात्मिक जीवन में विघ्न बाधा न आने देने के उद्देश्य से अपनी समस्त इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं।

स्पर्शन-इन्द्रिय विजय

छूकर पदार्थों का अनुभव करना स्पर्शन इन्द्रिय का काम है। इस इन्द्रिय का झुकाव एक तो काम सेवन की ओर होता है जिसका कि पूर्ण त्याग साधु पुरुष अपने ब्रह्मचर्य महाव्रत के द्वारा कर देते हैं। दूसरे यह इन्द्रिय यह चाहती है कि गर्मी के दिनों में शीतल वायु, शीतल पदार्थ छूने के लिये मिलते रहें और शीत ऋतु में गर्म वायु तथा गर्म वस्त्र आदि प्राप्त हों, कोमल शय्या सोने-बैठने को मिले।

मुनि महाराज स्पर्शन इन्द्रिय की इस लालसा की ओर भी ध्यान नहीं देते, समस्त ऋतुओं में नग्न रहते हैं, पृथ्वी या लकड़ी के पाटे पर सोते-बैठते हैं तथा सर्दी-गर्मी से अपने आपको बचाने का प्रयत्न नहीं करते। इस तरह वे स्पर्शन इन्द्रिय पर विजय प्राप्त करते हैं।

रसना-इन्द्रिय विजय

रसना (जीभ) मिष्ठान्न, नमकीन, खट्टे आदि रसीले स्वादिष्ट भोजन पाकर तृप्त होती है, नीरस रूखे-सूखे पदार्थ खाने से कतराती है। रसना इन्द्रिय की इसी इच्छा को पूर्ण करने के लिये लोग धर्म, स्वास्थ्य, धन की उपेक्षा करके रात-दिन चाहे जो कुछ खाते-पीते रहते हैं। मद्य, मांस आदि अभक्ष्य पदार्थों का खान-पान भी इसी रसना इन्द्रिय की गुलामी के कारण प्रचलित है।

किन्तु मुनि महाराज अभक्ष्य-भक्षण के पूर्ण त्यागी होते हैं। भोजन उन्हें जैसा भी निरस, रूखा-सूखा किन्तु शुद्ध मिलता है केवल पेट भरने का ख्याल कर लेते हैं, रसना इन्द्रिय की लोलुपता की पूर्ण उपेक्षा करते हैं। अतः वे रसना इन्द्रिय को स्वच्छंद नहीं होने देते।

नासिका इन्द्रिय

नासिका इन्द्रिय सुगन्धित वस्तुओं को सूंघकर प्रसन्न होती है, दुर्गन्ध से असंतुष्ट रहती है। इस इन्द्रिय को तृप्त करने के लिये लोग सुगन्धित फूल, कपूर, इत्र, तेल आदि सूंघा करते हैं, दुर्गन्धित पदार्थों से नाक सिकोड़ते हैं।

इन्द्रिय-विजयी साधु की दृष्टि में न तो सुगन्धित पदार्थ इष्ट, आकर्षण योग्य हैं, न दुर्गन्धित चीजें घृणा करने योग्य हैं। अतः वे सुगन्धि की ओर आकर्षित नहीं होते, न दुर्गन्धि से घृणा करते हैं। इन बातों की ओर वे ध्यान भी नहीं देते।

नेत्र इन्द्रिय विजय

नेत्र इस बात के लिये लालायित रहते हैं कि सुन्दर दृश्य, खेल-तमाशे, सुन्दर स्त्रियों का रूप, बाग, नदी आदि पदार्थ देखने को मिलते रहें।

इस इन्द्रिय को प्रसन्न करने के लिये ही मनुष्य नदी, पर्वत, नगर, बाग, रंगीन सुन्दर मूर्तियां, चित्र, नाटक, खेल, तमाशे, नृत्य, प्रकाश आदि देखकर नेत्रों को प्रसन्न करते हैं।

मुनि महाराज इन सब बातों से अलिप्त रहते हैं। वे इन कामों को अपनी चर्या में विघ्नकारी मानते हैं, अतः उनके नेत्रों में वैसी लालसा सर्वथा नहीं रहती। इस प्रकार वे नेत्र-इन्द्रिय विजयी होते हैं।

कर्ण इन्द्रिय विजय

कर्ण इन्द्रिय को आत्महित-शून्य बातें तथा गाना आदि सुनने की ओर न जाने देना कर्ण-इन्द्रिय विजय है।

कानों का झुकाव सदा सुरीले मीठे शब्द सुनने की ओर होता है। तदनुसार सुरीले बाजों की ध्वनि तथा मीठे गाने सुनने के लिये वे तैयार रहते हैं, जिससे कि आत्मा का कुछ हित सिद्ध नहीं होता। उपदेश आदि हितकर बातों के सुनने में कानों को आनन्द नहीं आता।

जो व्यक्ति कर्ण इन्द्रिय के दास हैं वे कानों को तृप्त करने के लिये गायन सुनने नाटक, थियेटरों में तथा महफिलों में जाते हैं, ग्रामोफोन के तथा रेडियो के गायन रिकार्ड सुनने के लिये लालायित रहते हैं। शास्त्र सभा में अथवा अन्य किसी धार्मिक चर्या-व्याख्यान सुनने के लिये प्रेरणा मिलने पर भी नहीं पहुंचते।

मुनि महाराज कर्ण इन्द्रिय को अपना दास बनाकर रखते हैं अतः कर्ण इन्द्रिय की गायनादि सुनने रूप विषय कामना को अपने पास नहीं फटकने देते। यही कर्ण-इन्द्रिय का विजय है।

आवश्यक कार्य

साधुओं को जो क्रियाएं प्रतिदिन अवश्य करनी चाहिये उनको आवश्यक कार्य कहते हैं।

आवश्यक कार्य 6 हैं—1. सामायिक, 2. वंदना, 3. स्तुति, 4. प्रतिक्रमण, 5. स्वाध्याय और 6. कायोत्सर्ग।

सामायिक

संसार के समस्त जीवों में समदृष्टि (समान भावना) रखकर आत्म-ध्यान करना सामायिक है।

संसार में न तो कोई किसी का मित्र है, न शत्रु। अपने भाग्य-वश किसी जीव से कभी किसी का कोई स्वार्थ सध जाता है, इस निमित्त से उसको मित्र मान लिया जाता है और कभी किसी का भाग्य-वश किसी व्यक्ति से कोई कार्य बिगड़ जाता है तो उस निमित्त से उसको शत्रु मान लिया जाता है। सौभाग्य के समय सब ही अनुकूल होते हैं, किसी के द्वारा किये हुए बिगाड़ के काम भी हानि के बजाय लाभ पहुंचा जाते हैं और दुर्भाग्य के समय अपने माता-पिता, पुत्र-पत्नी भी काम बिगाड़ने वाले बन जाते हैं। इसलिये वास्तव में जीव का शत्रु अपना अशुभ कर्म या दुर्भाग्य है और मित्र अपना शुभ-कर्म या सौभाग्य है।

अतः मुनि महाराज न किसी व्यक्ति को अपना मित्र समझकर किसी से अनुराग करते हैं, न किसी को शत्रु मानकर उससे द्वेष करते हैं। सबको समदृष्टि से देखते हैं। समदृष्टि के साथ जो आत्म-चिन्तन किया जाता है उसको सामायिक कहते हैं। सामायिक प्रतिदिन प्रातः दोपहर और संध्या समय की जाती है।

वन्दना

अपने आराध्य देव (जीवन्मुक्त अर्हन्त तथा पूर्ण मुक्त सिद्ध) को तथा पूज्य गुरु (आचार्य, उपाध्याय और साधु) को भक्ति-भाव से (हाथ जोड़कर, सिर झुकाकर) प्रत्यक्ष और परोक्ष नमस्कार करना वन्दना है।

भक्त पुरुष अपने पूज्य देव और गुरु की आत्म-विभूति प्राप्त करने के लिये उनके साथ भक्ति द्वारा निकट सम्पर्क स्थापित करता है, तभी वह पूजक से पूज्य बन सकता है। सांसारिक दृष्टि में भक्त का आदर्श या पूज्य भगवान भक्त से बहुत दूर समझा जाता है किन्तु भक्त अपनी प्रबल भक्ति की भावना से अपने पूज्य भगवान को अपनी आंखों के सामने विराजमान पाता है, अतएव वह अपने पूज्य भगवान को बड़ी श्रद्धा के साथ नम्रता से नमस्कार करता है। साधु की इस भक्ति-क्रिया का नाम वन्दना है।

स्तवन

अपने वन्दनीय देव तथा गुरु का विनय मिश्रित अनुरागवश गुणगान करना स्तवन है।

मनुष्य के हृदय में अभिमान मिटकर जब पूज्य भगवान के लिये अनुराग का बीज अंकुरित होता है, तब भक्ति का प्रादुर्भाव होता है। उस भक्ति का स्रोत जब रसना (जीभ) के द्वार से प्रवाहित होता है तब भगवान की गुणगाथा के मधुर शब्द बाहर निकल पड़ते हैं।

उन सुन्दर शब्दों को ही स्तवन या स्तुति कहा जाता है।

वन्दना और स्तुति भक्ति के ही दो रूप हैं ये क्रमशः किन्तु साथ-साथ हुआ करते हैं।

मुनि महाराज साधारण भक्तों की अपेक्षा अधिक उन्नति कर चुके हैं, साधारण आत्मा से वे महात्मा बन चुके हैं, फिर भी परमात्मा बनने के लिये वे भी भक्ति मार्ग द्वारा तथा आत्म-चिन्तन द्वारा परमात्म-पद प्राप्त करने का यत्न करते हैं। उसी यत्न के अन्तर्गत वन्दना का साथी यह स्तवन कार्य हैं जिसको साधु प्रतिदिन अवश्य करते हैं।

प्रतिक्रमण

चारित्र सम्बन्धी दोषों के निराकरण के लिए अनुताप (पाश्चात्ताप) करना प्रतिक्रमण है।

आहार, विहार, शयन करते, उपदेश देते समय असावधानी से शुद्ध चारित्र कुछ मलिन हो जाता है। उस मलिनता को दूर हटाने के लिये प्रतिक्रमण प्रतिदिन करते हैं।

जिस प्रकार कोई मनुष्य क्रोध, लोभ आदि कषाय की उत्तेजना से कोई पाप कर बैठता है, फिर शांत हो जाने पर पश्चात्ताप (पछताना) करता है कि 'मैंने यह कार्य अच्छा नहीं किया, मैं ऐसा फिर न करूंगा।' ऐसा करने से उसका हृदय उस पाप-भार से हलका हो जाता है। इसी प्रकार मुनि भी अपने छोटे-छोटे से दोषों की ग्लानि अपने मन से दूर करने के लिये प्रतिक्रमण किया करते हैं कि 'मेरे आत्मा से यह दोष दूर हो जावे, मैं निर्दोष हो जाऊं' आदि।

स्वाध्याय

अपने ज्ञान का विकास करने के लिए प्रतिदिन शास्त्र-अध्ययन करना स्वाध्याय है।

ज्ञान आत्मा का प्रधान गुण है, आत्मा में प्रकाश ज्ञानके ही कारण है। जब तक ज्ञान का पूर्ण विकास नहीं हो पाता तब तक ज्ञान को विकसित करना परम आवश्यक है, इसी उद्देश्य से मुनि महाराज प्रतिदिन शास्त्र अभ्यास किया करते हैं। पढ़ना, पढ़ाना, सुनना, किसी धार्मिक विषय की चर्चा करना, कोई अज्ञात विषय पूछना, उपदेश देना, पाठ करना, किसी विषय का मनन करना भी स्वाध्याय ही है।

आत्म-अभ्युदय का स्वाध्याय एक सुगम मार्ग है।

कायोत्सर्ग

शारीरिक मोह दूर करने के उद्देश्य से तथा आत्मशुद्धि के अभिप्राय से खड़े होकर ध्यान करना कायोत्सर्ग है।

आत्मध्यान के सिवाय (भोजन, गमन, मल-मूत्र आदि) व्यवहारिक क्रियाओं के अनन्तर मुनिराज आत्म-शुद्धि के लिये कायोत्सर्ग किया करते हैं।

अपने शरीर को आराम पसन्द, सुस्त और कायर न बनने देने के लिये तथा शरीर से मोह ममता घटाने के अभिप्राय से दृढ़ अचल आसन से आत्ममनन करना, भूमि पर सोना, खड़े होकर आत्मध्यान करना आदि कार्य भी (जिनसे कि शरीर कष्ट सहनशील बने) कायोत्सर्ग है।

कायोत्सर्ग के कारण अविचल तपश्चर्या का अभ्यास होता है, शरीर से मोह दूर होता है तथा आत्मशुद्धि होती है।

अवशिष्ट 7 गुण

महाव्रत, समिति, इन्द्रिय-विजय और आवश्यक कर्म के सिवाय साधु के आचरणीय, निम्नलिखित 7 नियम और हैं–

1. स्नान त्याग, 2. अदन्तधावन, 3. नग्नता, 4. भूमि शयन, 5. एक बार भोजन, 6. खड़े होकर भोजन करना, 7. केशलोंच करना।

स्नान त्याग

शरीर को स्वच्छ सुन्दर बनाने के लिये लोग तेल, साबुन, उवटन लगाकर जल से स्नान किया करते हैं, किन्तु मुनि महाराज का चित्त शारीरिक सौन्दर्य से विरक्त रहता है तथा वे सदा जीव रक्षण में सावधान रहते हैं।

स्नान करने से उनके दोनों पवित्र उद्देश्यों का भंग होता है, क्योंकि स्नान करते समय जलीय जीव, चींटी आदि क्षुद्र जीव-जन्तुओं का जलसे घात प्रायः होता ही है और शारीरिक शृंगार का तो स्नान एक विशेष साधन है ही। अतः मुनि महाराज स्नान नहीं किया करते यदि कभी किसी अपवित्र पदार्थ का संसर्ग हो जाये तो मुनि महाराज स्वच्छ निर्जन्तु स्थान पर खड़े होकर कमण्डलु के जल को शिर पर डालकर दण्ड-स्नान कर लिया करते हैं।

अदन्तधावन

मुख की सुन्दरता प्रगट करने के लिये दांतुन, मंजन आदि से गृहस्थ मनुष्य दांतों को स्वच्छ चमकीला किया करते हैं। साधु इस प्रकार की शारीरिक सजावट से निःस्पृह होते हैं अतःवे दांतुन, मंजन आदि नहीं किया करते।

नग्नता

वयस्क पुरुष के हृदय में कामवासना का प्रादुर्भाव हो जाता है जो कि किसी सुन्दर स्त्री को देखकर अथवा उसका चित्र प्रतिमा आदि देखकर या उनके विषय में कामजनक विचार करते ही हृदय में जागृत हो जाती है। वासना जागृत होते ही पुरुषेन्द्रिय पर विकार स्वयं आ जाता है। इस विकार को छिपाने के लिये मनुष्य लंगोट धोती, पाजामा आदि वस्त्र पहना करते हैं, छोटे बच्चे के हृदय में कामवासना नहीं होती, अतः वह नंगा फिरता रहता है। उसको नंगा देखकर न अन्य मनुष्यों का मन विकल होता है, न किसी स्त्री के मन में विकार आता है।

मुनि महाराज भी कामविजयी होने से छोटे बच्चे के समान निर्विकार होते हैं अतः उनकी इन्द्रिय पर काम विकार की झलक नहीं आ पाती। इस कारण बे-ऐब (निर्विकार) होने से उनको धोती-लंगोटी पहनने की कोई आवश्यकता नहीं।

इसके सिवाय ठण्डक, गर्मी, वर्षा के ऋतुजन्य कष्टों को अविचल रूप से सहन करने की शक्ति और उत्साह भी साधुओं में होता है, अतः वे वस्त्र पहनकर ठण्डक गर्मी आदि से बचने का यत्न नहीं करते।

वस्त्र लेने के लिये रुपया पैसा आदि द्रव्य की आवश्यकता होती है। किन्तु मुनि महाराज अपने पास एक कौड़ी भी नहीं रखते, अतः वे वस्त्र ले भी नहीं सकते।

वस्त्र रखने पर उनको धोने, सुखाने, सीने, फाड़ने आदि की अनेक झंझटें अपने आप लग जाती हैं, ऐसी झंझटों से दूर रहने के लिये ही विरक्त पुरुप साधु दीक्षा लेते हैं।

इस प्रकार परिग्रह रूप वस्त्र का सर्वथा त्याग करके साधु नग्न रहा करते हैं जिससे वे स्वाधीन और निश्चिन्त रहते हैं।

भूमिशयन

शरीर को आराम पहुंचाने के लिये गृहस्थ लोग पलंगों तथा नर्म गद्दों आदि बिछौनों पर सोया करते हैं किन्तु मुनियों ने सभी आराम के साधन छोड़ दिये हैं, न शरीर से उनको मोह रहता है, अतः वे भूमि पर, पत्थर की शिला या लकड़ी के पट्टे पर रात के चौथे प्रहर में केवल एक करवट से थोड़ी देर के लिये सोया करते हैं। साधुओं का यह भूमिशयन गुण है।

एक बार भोजन

जिस प्रकार गृहस्थ लोग दिन में अनेक बार अनियमित भोजन करते हैं मुनि महाराज इस तरह अनियमित भोजन नहीं करते वे यदि भोजन करना चाहते हैं तो अपने नियमानुसार भोजन का संयोग मिल जाने पर दिन में केवल एक बार ही भोजन करते हैं, जल भी उसी समय पीते हैं। उसके बाद वे न दूसरी बार भोजन करते हैं, न जल ही पीते हैं।

एक बार खावे सो योगी,

दो बार खावे सो भोगी,

अनेक बार खावे सो रोगी।

खड़े होकर भोजन करना

गृहस्थ लोग भोजन बैठकर आराम के साथ करते हैं, किन्तु मुनिराज भोजन खड़े होकर अपने हाथों में करते हैं। खड़े होकर भोजन करने में भोजन थोड़ी मात्रा में किया जाता है।

केशलोंच करना

मुनियों का रहन-सहन स्वतन्त्र तथा आर्थिक-व्यय से शून्य रहता है क्योंकि रुपया पैसा आदि द्रव्य से सम्बन्ध तोड़कर ही तो साधु बनते हैं। अतः वे अपने बाल बनवाने के लिए किसी नाई, उस्तरा, कैंची आदि व्ययसाध्य पदार्थ का सहारा नहीं ढूंढते, अतएव वे अपने सिर, दाढ़ी, मूंछ के बालों को अपने हाथों से ही 2 (दो) माह, 3 (तीन) माह या 4 (चार) माह के अन्तर लोच कर डालते हैं। इस क्रिया से जहां उनके स्वतंत्र जीवन पर प्रकाश डालते हैं, वहीं उनकी शारीरिक कष्ट-सहिष्णुता की भी परीक्षा होती है।

इस प्रकार ये 28 गुण साधु के होते हैं, मुनिराज इनका कठोरता से आचरण करते हैं। इन गुणों के अनुसार साधु चर्या अहिंसा का उत्कृष्ट आदर्श है, स्वतंत्र जीवन का प्रतीक है और दैन्यरहित सिंहवृत्ति का सुन्दर उदाहरण है।

●●●

आचार्य वीरसागर महाराज

पं० सुमेर चंद जी को सात अप्रैल, 1957 के प्रभात में जयपुर की खजांची की नसिया में 82 वर्ष की वय वाले महातपस्वी निर्ग्रन्थ गुरु तथा स्वर्गीय चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसारगजी के द्वारा नियुक्त उत्तराधिकारी आचार्य वीरसागर महाराज के पुण्यदर्शन का सौभाग्य मिला। वयोवृद्ध होते हुए भी उनके सारे शरीर में, विशेषतया मुख में एक विशेष दीप्ति दिखाई पड़ती थी, जो उच्च तपस्वियों में पाई जाती है।

पं० जी उनको प्रणाम किया और उनसे कुछ चर्चा प्रारम्भ हुई। उससे उनके मन को बड़ी शांति मिली, अन्तःकरण को अपूर्व आनन्द मिला और विचारों को महत्त्वपूर्ण सामग्री मिली। उनकी आचार्य शांतिसागर महाराज में अगाध भक्ति थी।

मुनि मार्ग के सच्चे सुधारक

वे कहने लगे, "आचार्य महाराज ने हम सबका अनन्त उपकार किया। उन्होंने इस युग में मुनिधर्म का सच्चा स्वरूप आचरण करके बतलाया। उनके पूर्व उत्तर में तो मुनियों का दर्शन नहीं था और दक्षिण में जहां कहीं भी मुनि थे, उनकी चर्या विचित्र प्रकार की थी। वे दिगम्बर मुनि कहलाते भर थे; जहां उपाध्याय जाकर पहिले से आहार की अच्छी व्यवस्था कर लेता था और आकर कहता था 'बर री स्वामी' महाराज चलो। लोगों को पड़गाहने की विधि नहीं मालूम थी। उपाध्याय उस समय मुनि को आहार कराता था और स्वयं भी माल उड़ाता था।

इस वातावरण को देख शांतिसागर महाराज के मन ने यह अनुभव किया कि यह तो निर्ग्रन्थ मुनि की चर्या नहीं हो सकती। उन्होंने उपाध्याय के द्वारा पूर्व निर्णीत घर में जाना एकदम छोड़ दिया। दिगम्बर मुद्रा धारण कर उन्होंने आहार के लिए विहार करना प्रारम्भ किया। लोगों को विधि मालूम न होने से वे उनको यथा शास्त्र नहीं पड़गाहते थे। इससे महाराज लौट करके चुपचाप आ जाते। शान्त भाव से वह उस दिन उपवासपूर्वक व्यतीत करते थे। दूसरे दिन भी ऐसा ही हुआ। धर्मात्मा गृहस्थों में चिन्ता उत्पन्न हो गई। फिर भी वे नहीं जानते थे कि इनके उपवास का क्या कारण है? क्योंकि वे गुरुदेव शान्त थे और किसी से अपनी बात नहीं

कहते थे। उनकी चर्या को देखकर कोई भी आदिप्रभु के युग को स्मरण करेगा। ऐसी परिस्थिति के मध्य जब चार दिन बीत गये, तब ग्राम के प्रमुख पाटिल ने उपाध्याय को बुलाकर कड़े शब्दों में कहा, "साधूला मारतोस काय? विधि सांगा" 'साधु को मारता है क्या? विधि क्यों नहीं बताता?" जब उपाध्याय ने ठीक-ठीक विधि बताई, तब पड़गाहना शुरू हुआ।

गुरूस्मरण

वीरसागर महाराज ने जब यह कहा, उस समय गुरु के स्मरण से उनके नेत्रों में अश्रु छलछला पड़े थे, "खरे गुरू वे ही थे। उन्होंने मुनि बनकर मार्ग बताया।"

विकट स्थिति

उस विकट स्थिति में जबकि अन्य अनेक मुनि आगम विरुद्ध वस्त्र धारण कर निर्णित किये हुए घर में, एक प्रकार से आमंत्रित प्रदेश में आहार करते थे, तब निर्ग्रन्थ गुरू की चर्या के अनुसार प्रवृत्ति करना और मार्ग निकालना कितना कठिन काम था, इसकी सामान्य मनुष्य कल्पना नहीं कर सकता।

वृत्तिपरिसंख्यान तप

आचार्य महाराज कोन्नूर में विराजमान थे। वहां का धार्मिक पाटील महाराज को आहार कराने के लिए निरन्तर उद्योग करता था; किन्तु महीनों बीतने पर भी वह सफल मनोरथ नहीं हुआ। पाटील ने चन्द्रसागरजी से अपनी मनोव्यथा सुनाई।

चन्द्रसागरजी ने आचार्य श्री से पूछा, "महाराज पाटील के यहां योग्य विधि लगने पर भी आपका आहार वहां क्यों नहीं होता?"

आचार्य श्री बोले, "पाटील के घर के चौके से पूर्व योग्य विधि मिलती है, तो उसको छोड़कर आगे कैसे जायें?" इसके पश्चात् महाराज ने 'वृत्ति-परिसंख्यान तप' के स्वरूप को दृष्टि में रखकर विशेष प्रतिज्ञाएं लेनी शुरू कीं। इससे अनेक व्यक्तियों को आहार देने का सौभाग्य मिलने लगा।

गम्भीर प्रकृति

आ० महाराज आहार में केवल दूध और चावल लेते थे। अत्यन्त बलवान और सुदृढ़ शरीर में वह भोज्य पदार्थ थोड़ी ही देर में पच जाता था, फिर भी महाराज ने यह कभी नहीं कहा कि गृहस्थ लोग विचारहीन हैं, एक ही पदार्थ को देते हैं।

एक दिन चन्द्रसागरजी ने कहा, "महाराज! आप दूध, चावल ही क्यों लेते हैं और भोजन क्यों नहीं करते?" कुछ देर चुप रहकर महाराज ने कहा, "जो गृहस्थ देते हैं, वह मैं लेता हूं। इन्होंने दूध चावल ही दिये, दूसरी चीज दी ही नहीं, इसलिए मैं दूध और चावल ही लेता रहा। इस प्रकार मनोगत को जानकर लोगों ने आहार में अन्य भोज्य पदार्थ देना प्रारम्भ किया।

व्रत दान

आचार्य महाराज का जीवन चुम्बक की तरह मन को आकर्षित करता था। एक दिन पं० धन्नालालजी कासलीवाल, बम्बई वाले महाराज के पास गये और बोले, "महाराज, मुझे ब्रह्मचर्य प्रतिमा दीजिए।" महाराज ने कहा, "इसके लिए मुहूर्त देखेंगे।" पंडितजी ने विनयपूर्वक कहा, "महाराज, आज मैंने आपके चरण पकड़ लिए। मेरे लिए, इससे बढ़कर क्या मुहूर्त होगा?" पंडित जी की तीव्र लालसा देखकर उन्हें उसी समय ब्रह्मचर्य प्रतिमा दी गई। दो माह के पश्चात् पण्डित धन्नालालजी का स्वर्गवास हो गया। व्रतयुक्त उनकी मृत्यु हुई। इस प्रकार महाराज ने बहुत-से व्यक्तियों का कल्याण किया।

वीरसागर महाराज ने कहा, "आचार्य महाराज के शरीर पर सर्प लिपटा था; किन्तु उसने कुछ उपद्रव नहीं किया, इसका कारण उन्होंने बताया, "अंतरंग में निर्मलता है, तो बाहर वालों में भी निर्मलता आ ही जाती है, इसलिए वह सर्प अभिभूत हुआ।"

मुनिजीवन में क्या कष्ट है?

मैंने कहा, "महाराज, आचार्यश्री ने आपको मुनि बनाकर, आपको कष्ट दिया या आनन्द दिया? उत्तर देते हुए वीरसागर महाराज बोले, हमें कौन-सी बात का कष्ट है? हम तो तुम्हारी तकलीफ देखते हैं और उसे छुड़ाना चाहते हैं। तुम परिग्रह और आकुलता के जाल में जकड़े हुए हो। तुम्हें क्षण भर भी शान्ति नहीं है।"

"देखो! साधु के परीषह होती है, गृहस्थी भी कम परीषह सहन नहीं करता। जितना कष्ट गृहस्थ उठाता है तथा जितना परिग्रह का ध्यान वह करता है, उतना कष्ट यदि मुनि सहन करे और निज गुण का ध्यान करे, तो उसे मोक्ष प्राप्त करने में देर न लगे। देखो! चिल्हर का व्यापार करने वाला बीच बाजार में बैठता है।

हर एक ग्राहक को देता है, लेता है; परन्तु अपने धन कमाने के ध्येय को नहीं भूलता है। कितनी सावधानी रखता है वह?"

"दूसरी बात, गृहस्थ जेठ महीने में दस बजे दुकान पर जाता है। सूर्य की गर्मी बढ़ती जाती है। ग्राहकों की भीड़ लगी हुई है। उस समय नौकर आकर कहता है, पानी पी लो, तो वह सुनता नहीं, बहिरा बन जाता है। पुनः कहता है, तो वह डांट देता है या उसकी ओर उसका ध्यान नहीं देता है। ध्यान है ग्राहक पर। इस प्रकार वह अपने लाभ की ओर चित्त लगाए हुए रहता है और कष्ट की ओर उसका ध्यान नहीं जाता। यह दृष्टि का फेर है। आत्म-कल्याण में लगने पर साधु आरम्भ क्रियाओं को छोड़ देता है और आत्म-कल्याण के कार्यों में आगत विघ्नों को सहज ही सहन करता है।"

जगत् के गुरु

आचार्य महाराज के विषय में वे कहने लगे, "उनकी वाणी में कितनी मिठास, कितना युक्तिवाद और कितनी गम्भीरता थी, यह हम नहीं कह सकते। महाराज, जब आलंद (निजाम राज्य में) पधारे, तब उनका उपदेश वहां मुस्लिम जिलाधीश के समक्ष हुआ। उस उपदेश को सुनकर वह अधिकारी और उनके सहकारी मुस्लिम कर्मचारी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने महाराज को साष्टांग प्रणाम किया और बोले, "महाराज, जैनों के ही गुरु नहीं हैं, ये तो जगत् के गुरु हैं। हमारे भी गुरु हैं।"

आचार्य महाराज समय को देख सुन्दर ढंग से इस प्रकार तत्त्व बतलाते थे कि शंका के लिए स्थान नहीं रहता था। मैंने पूछा, "उस भाषण में महाराज ने क्या कहा था?" वे बोले—"आचार्य महराज ने देव, गुरु तथा शास्त्र का स्वरूप समझाया था।"

उन्होंने कहा था, "जो हमारे ध्येय को पूरा करे वही देव है। जितने ध्येय हैं, उतने देव मानने पड़ेंगे और उनकी पूजा करनी पड़ेगी। कुंजड़ी को देव मानना होगा, तब इष्ट साग आदि की पूर्ति होगी। पूजा का स्वरूप लोगों ने समझा नहीं, पूजा का अर्थ योग्य सम्मान है।"

उन्होंने बताया, "हम शिखरजी गये थे। रास्ते में 100-150 बैलों का झुंड मिला। चार मस्त बैल भागे; महाराज की तरफ आये और उनकी तरफ मुंह करके प्रणाम

करके रह गये। देखने वालों के नेत्रों में आंसू आ गये। लोग कहने लगे, इन जानवरों को इतना ज्ञान है कि साधुराज को प्रणाम करते हैं और मनुष्यों की इसके विपरीत अवस्था है।'' वीरसागर महाराज ने कहा था कि उस परिस्थिति में आचार्य महाराज पूर्ण शान्त थे।

दक्षिण के जैनों का उद्धार

वे बोले, ''आचार्य महाराज ने दक्षिण के जैनों का बड़ा उपकार किया है। उन्होंने पत्थर को रत्न बनाया है। किसी-किसी जगह जैन लोग बलिदान में सम्मिलित होते थे। आचार्य महाराज ने उस समय यह नियम किया था कि जो जीवहिंसा का त्याग करेगा, मिथ्यात्व का त्याग करेगा और पुनर्विवाह का त्याग करेगा, उसके हाथ का ही आहार लेंगे।''

करुणाग्रह

''एक समय की बात है, चिपरी गांव का पाटील बलिदान मार्ग छोड़ नहीं रहा था। उस समय महाराज ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक यह नियम नहीं करेगा, तब तक मेरे अन्न-जल का त्याग है।'' स्मरण रहे कि यह उस समय की बात है, जब गांधीजी के पास सत्याग्रहरूपी हथियार नहीं पहुंचा था। उन्होंने जीवहित के लिए जिस मार्ग को अपनाया था, उसे आज की दुनिया सत्याग्रह कहती है—''पहिले दिन पाटील पर कोई असर नहीं हुआ।'' आज महाराज का उपवास है, केवल इसलिए कि ग्रामनायक ने हिंसा-सम्पर्क का त्याग नहीं किया। दूसरा दिन आया, फिर भी महाराज आहार को नहीं उठे; क्योंकि पाटील का मन पत्थर की तरह कड़ा है और वह परिवर्तन को तैयार नहीं है। जीवदया से प्रेरित अन्तःकरण और पाटील के उद्धार करने में दृढ़ प्रतिज्ञ वे साधुराज और कड़े हो गए। सारी बस्ती में गहरी चिन्ता छाई हुई थी। ऐसे अवसर पर वह पाटील चुपके से कोल्हापुर भाग गया।

''तीसरा दिन आया, फिर भी महाराज का आहार नहीं हुआ, तब तो सारे ग्रामवासी बेचैन हो गये। कोल्हापुर जाकर लोग पाटील को पकड़कर लाये और बोले, क्या साधु के प्राण लेना है? क्यों नहीं नियम लेता है। वह वज्रहृदय कोमल बन गया। महाराज के चरणों को प्रणाम कर उसने सर्वदा के लिए पाप का त्याग किया, तब महाराज आहार को उठे। वीरसागर महाराज बोले—''आचार्यश्री के जीवन की ऐसी अनमोल अनेक घटनायें हैं। वे अपने ढंग के एक ही थे, उन सदृश श्रेष्ठ आत्मा का दर्शन कहां होगा?''

शिष्य बनो

वीरसागर महाराज बोले, "जो अपने को गुरु मानता है वह उन्नति नहीं कर पाता। शिष्य बनोगे तो तुम्हारा हित होगा। शिष्य बनने पर अपनी गलती मालूम पड़ती है। गुरु बनने पर कैसे पता चलेगा?"

प्रश्न–"आचार्य शांतिसागर महाराज में गुरुपना था या शिष्यपना?"

उत्तर–"हमारे लिए तो वे गुरु थे; किन्तु स्वयं को गुरु नहीं मानते थे। अपने को गुरु मानने वाले का कल्याण नहीं है।" अहंकार अर्थात् मद बड़ा दोष है। वह सम्यक्त्व को नष्ट कर देता है।

रोग के विषय में अपूर्व दृष्टि

प्रश्न–"महाराज, आपका स्वास्थ्य खराब रहता है, इससे चिन्ता होती है।" उत्तर में महाराज ने यह महत्त्व के शब्द कहे, "त्यागी को रोग वैराग्य के लिए होता है और भोगी को रोग रोने के लिए होता है।" इसके सिवाय उन्होंने और कुछ नहीं कहा।

स्वप्न में गुरुदर्शन

प्रश्न–"आचार्य महाराज का कभी स्वप्न में दर्शन होता है क्या?"

उत्तर–"मनीं वसे स्वप्नीं दिसे, जो बात मन में जमी रहती है, स्वप्न में उसका दर्शन होता है। इस नियमानुसार गुरुदेव का स्वप्न में अनेकबार दर्शन होता है। हमारी उनसे बातचीत भी हुआ करती है।"

शत्रु पर प्रेम

उन्होंने कहा, "आचार्य श्री का जीवन अनमोल था। उनका अनुभव-ज्ञान-अद्भुत था।" उन्होंने बताया कि "राजखेड़ा में जब 500 गुण्डों के साथ छिद्दी ब्राह्मण आक्रमण के लिये शस्त्रों से सज्जित होकर आने की तैयारी कर रहा था, उस समय आचार्य श्री की अन्तरात्मा को विलक्षण प्रकाश मिला। ठण्ड के दिन थे, गगनमण्डल में कुछ बादल देख उन गुरुदेव ने आदेश कर दिया कि संघ के त्यागी आज कोठरी (कमरे) के भीतर ही ध्यान करेंगे। 15 मिनट बाद ही उपद्रव आरम्भ हुआ; किन्तु उपद्रवकारी विफल रहे। वे जिन साधुओं पर उपसर्ग करना चाहते थे, वे तो कमरे के अन्दर थे, इसलिये उनकी दुर्भावनाएं मन की मन में रह गईं। उस समय पुलिस

का अधिकारी महाराज के पास आकर बोला–"इस छिद्दी का क्या करना चाहिये? आज्ञा दीजिये। महाराज ने कहा, मेरी मानोगे क्या? पुलिस कप्तान ने कहा, आपकी आज्ञा का हम परिपालन करेंगे। महाराज बोले, "छिद्दी को छोड़ दो।"

इस प्रकार प्राण लेने वाले पर भी प्रेम का भाव धारण करने वाले वे गुरुदेव सचमुच में शान्ति के सागर ही थे।

अचिन्त्य आत्मबल

आचार्य श्री में एक दूसरी विशेषता उन्होंने बतलाई, वह था उनका आत्मबल। उनका आत्म-विश्वास अचिन्त्य था। जिनवाणी पर श्रद्धा रखकर आत्म-बल के आश्रय से वे अपना मार्ग निर्धारण करते थे। उस समय उनके विरुद्ध यदि सारा संसार हो, तो भी उन्हें उसका भय नहीं था। वे अपूर्व आत्मवली सत्यनिष्ठ संत थे।

वीरसागर महाराज को उष्णता के कारण बहुधा चक्कर आ जाया करते हैं। उस मूर्च्छा की स्थिति में भी उनकी उंगली जाप करती हुई मालूम पड़ती थी। ओष्ठ भी पंचपरमेष्ठी के नाम की आराधना करते थे।

हित शत्रु

उनके एक भक्त-विद्वान्-त्यागी के समक्ष मैंने महाराज से कहा–"आपके सिर में ब्राह्मी तैल सदृश कोई औषधि अवश्य लगनी चाहिये। वे बोले, "हमें अपने शरीर की अवस्था मालूम है। ये हमारे हितैषी बनकर आपको बातें सुनाते हैं। मैं तो इनको अपना हित-शत्रु समझता हूं। हितैषी के लिये हित शत्रु शब्द को सुनकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ, इसलिए मैंने पूछा, "आपने यह कैसे कहा?"

उत्तर–"ये बताते हैं हित और करते हैं हमारे हित का घात। प्रमाद को बढ़ाने वाले कार्यों की ओर मुझे ले जाना चाहते हैं। उनसे मेरा घात होता है। इसलिए मैंने सोच-समझकर इन्हें शत्रु कहा है।" इसके पश्चात् वे कहने लगे, "दिवाकरजी! मेरे पास एकान्त नहीं है, मैं अनेकान्त दृष्टि से सोचता हूं।"

पिच्छी की लाज रखो

आचार्य वीरसागरजी ने पिच्छी धारण करने वाले त्यागियों को दृष्टिपथ में रखते हुए कहा, "साधु को अपने पद का हमेशा ध्यान रखना चाहिये।" पिच्छी हाथ में लेकर उन्होंने मुझसे पूछा, "हमारे हाथ में क्या है?" फिर बोले, "इस पिच्छी को

हाथ में लेकर जिसने करुणा नहीं की, उसने क्या किया?" वे बोले, "हमारा तो यह कहना है, पिच्छी को लजाओ मत।"

बनिया

वे कहने लगे, "अपने हानि-लाभ का विचार करने वाला बनिया सबसे चतुर होता है। मुमुक्षुको अपने आत्म-हित के बारे में इसी प्रकार सोचना चाहिये।" उन्होंने कहा, "बनियों से स्याना अजब दिवाना।" पश्चात् बोले, "बनिया प्रारम्भ से चतुर रहता है और जाट पीछे समझदारी पाता है।" उनके शब्द थे, "बनियों मूल में स्यानों, जाट आखिर में स्यानों।"

घर में प्रतिमा विराजमान करो

मैंने कहा था, "महाराज, हमारे पिताजी बहुत वृद्ध हो गये, शरीर शिथिल हो गया, घुटनों में दर्द रहने के कारण जिन मन्दिर जा नहीं सकते, क्या उनकी धर्मसाधना के हेतु घर में जिन भगवान् की मूर्ति ला सकते हैं?"

उत्तर में उन्होंने कहा, "अवश्य मूर्ति विराजमान करो।" बाद में उन्होंने एक मराठी की कहावत सुनाई, "ज्याच घरी नाहीं जिना च दर्शन। जनावे श्मशान घर त्याचे, जिनके घर में जिन भगवान् की मूर्ति नहीं, वह घर तो श्मशान तुल्य है।" इस प्रकार अनेक ज्ञानी मुनियों ने कहा था। धर्म से अनभिज्ञ गृहस्थ इस आगमोक्त कार्य की निन्दा कर पाप का बंध करता है।

अनादि मूलमन्त्र

प्रश्न—"कुछ लोग कहते हैं, यह णमोकार मंत्र तो पुष्पदन्त आचार्य ने बनाया, क्या यह ठीक है?"

उत्तर—"यह अनादि मूलमंत्र है। साधुओं के प्रतिक्रमण आदि में णमोकार मंत्र का निरन्तर उपयोग होता है। सामायिक प्रकीर्णक का मंगलाचरण यह णमोकार मंत्र है। सामयिक दण्डक के प्रारम्भ में भी यह मंत्र है और भी कारणों से इसे अनादि मूलमंत्र मानना चाहिये।"

सम्यक्त्व खेल नहीं है

प्रश्न—"महाराज! आज सम्यक्त्व का बाजार बड़ा गरम है। उसका हर जगह नाम सुनाई पड़ता है तो क्या बात है?"

उन्होंने उत्तर में सूत्र रूप से ये शब्द कहे, "सम्यक्त्व खेल नहीं है, वह बहुत बड़ी चीज है।"

साधु वहिष्कार

प्रश्न–"आज हरएक आदमी कहने लगता है, अमुक साधु में इस प्रकार दोष हैं, उसको ठीक करना समाज का कर्तव्य है। इस विषय में आपका क्या कहना है?"

उत्तर–"पहिले एक बार एक विकट प्रसंग आ चुका है, मुनि का बहिष्कार कौन कर सकता है? मैंने कहा था, "मुनि के वहिष्कार करने का तुमको, मुझको अधिकार नहीं है। राजा को या आचार्य शांतिसागरजी को (जो उस समय जीवित थे) इस विषय में अधिकार है।"

वे कहने लगे, "आजकल लोग अतिरेक में लग गये हैं। हर बात में अतिरेक होने से ही गड़बड़ी पैदा हो गयी है। कोई किसी की नहीं सुनता, सब अपनी-अपनी सुनाना चाहते हैं।"

प्रश्न–"ऐसी स्थिति में सत्पुरुप का क्या कर्तव्य है?"

उत्तर–"ऐकावे जनाचे, करावे मनाचे", लोगों का सुनो और अन्तःकरण के अनुसार करो।" गांधीजी भी तो अन्तरात्मा की आवाज को बहुत महत्त्व दिया करते थे। यह बात भी स्मरण पोपण है कि पाप करते-करते पापी की अन्तरात्मा का एक प्रकार से प्राणहरण हो जाता है।

विचित्र प्रश्न

"एक बार एक साम्प्रदायिक गेरुआ वस्त्र धारण कर आचार्य महाराज के पास आया और उसने आचार्य महाराज से एक विचित्र प्रश्न पूछा, "सब वस्त्र त्यागकर आप नग्न क्यों बने हैं?" इस प्रश्न को सुनकर आचार्य महाराज पूर्ण शान्त रहे। उन्होंने कहा था, "भाई! यह तो बताओ, आपने गेरुआ वस्त्र क्यों धारण किया? उस विद्वान् ने कहा, "हमारे शास्त्र की आज्ञा है कि साधु को गेरुआ वस्त्र रखना चाहिये।"

आचार्य महाराज ने कहा–"आपका शास्त्र गेरूआ वस्त्र रखने की आज्ञा देता है; किन्तु हमारा शास्त्र दिगम्बर मुद्रा धारण करने की बात बताता है। आपका शास्त्र

आपके लिए मान्य है, हमारा शास्त्र हमारे लिए मार्गदर्शक है।" इस उत्तर से महाराज वीरसागरजी ने सुनाया था कि वे विद्वान् अवाक् हो गये और उनके मन में महाराज के प्रति आदर का भाव जागा।

दुष्ट का समाधान

उन्होंने बताया, "एक बड़े जैन विद्वान् मुनिपद धारण के प्रतिकूल धारणा वाले थे। वे शांतिसागर महाराज के पास आये। उस समय वे विद्वान अपनी अश्रद्धा व्यक्त करते हुए मुनिपद के विरुद्ध अनेक बातें कहने लगे। शान्तमूर्ति आचार्य महाराज ने कहा–"पं० जी! आप एक वर्ष के लिए मुनि की चर्या पाल लो। उसको पालन करने के बाद अनुभव के आधार पर आप जो भी बात कहेंगे, उसे हम पालन करने को तैयार रहेंगे।" उनके इस उत्तर को प्राप्त कर वे पंडितजी नतमस्तक हो चुप हो गये।"

वीरसागर महाराज कहने लगे–"आचार्य महाराज की तपस्या की बात मत पूछो। उन्होंने कठोर से कठोर संयम की साधना की थी। उन्होंने सिंह निष्क्रीड़ित नाम का महान् तप किया। सब रसों का त्याग कर रखा था। उनका सारा जीवन उज्ज्वल संयम की साधना में संलग्न रहता था।" चारित्रमोह का भार न्यून होने से उन्हें उपवासादि में आनन्द आता था।

अलौकिक प्रभाव

वीरसागर महाराज ने बताया–"उनका प्रभाव अलौकिक था। मैंने और खुशालचन्द्रजी पहाड़े (चन्द्रसागरजी) ने उनके कोन्नूर में दर्शन किये थे। उन्हें देखते ही हम दोनों के मन पर क्या प्रभाव पड़ा, हम नहीं कह सकते। उन्हें देखकर हमारा मन यही बोला कि ऐसे गुरु को छोड़कर अब नहीं जाना चाहिए। उनके दर्शन से अपने आप हमारे परिणाम संयम की ओर वृद्धिंगत हुए। उन्होंने हमें प्रेरणा तक नहीं की किन्तु उनका आध्यात्मिक प्रभाव अन्तःकरण को प्रबल प्रेरणा प्रदान करता था।" उस समय वीरसागरजी का नाम ब्र० हीरालाल था।

महाराज के लोकोत्तर प्रभाव का उल्लेख करते हुए वीरसागरजी महाराज ने बताया, "एक स्त्री बड़े भीषण स्वभाव और उद्दण्ड प्रकृति की थी। उसने आचार्य महाराज को देखा। उसका जीवन इनकी तपः पुनीत मुद्रा से महान् प्रभावित हुआ और उसके भावों में बड़ी शान्ति आ गई। उसने क्षुल्लिका के व्रत धारण कर लिए थे।"

धर्म में अरुचि क्यों?

प्रश्न–"महाराज! आजकल अन्य लोगों की जैनधर्म में रुचि नहीं है। जैनी क्यों अल्प संख्या वाले हैं–जैनों की अल्पसंख्या क्यों है?"

उत्तर–"जौहरी की दुकान में बहुत थोड़े ग्राहक रहते हैं, फिर भी उसका अर्थलाभ विपुल मात्रा में होता है। सागभाजी बेचने वाले की दुकान पर बड़ी भीड़ लगी रहती है, फिर भी बहुत थोड़ी ही आमदनी होती है। इसी प्रकार वीतराग भगवान् का धर्म है। बिना निर्मल परिणाम हुए उसे पालन करने को लोगों की तबियत नहीं होती।" अनादि संस्कारवश जीव असंयम की ओर जाता है। जो उपदेश उस ओर ले जाता है, वह मोही जीव को अच्छा लगा करता है। पुरुषार्थी तथा आत्मबली व्यक्ति जितेन्द्रियता के उपदेप्टा धर्म में लगते हैं। ऐसी उच्च आत्माएं थोड़ी संख्या में होती हैं।

सार्वधर्म

प्रश्न–"जैन धर्म सार्व धर्म है, तो सबको पालन करने का अधिकार मिलना चाहिए। यदि सबको जैनी नहीं बनाते हो, तो जैन धर्म सार्व धर्म नहीं बनेगा। ऐसी स्थिति में सार्व धर्म माने जाने वाले जैन धर्म वालों के मन्दिर में शूद्रों का प्रवेश क्यों रोकते हैं?"

उत्तर–"कोई नहीं रोकता। जैन बनने की रोक-टोक कहीं नहीं है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि मन्दिर अजायबघर नहीं है, वह धर्म आयतन है। जैन धर्म का मानने वाला उसमें जायेगा। अपनी योग्यता के अनुसार प्रत्येक को आना चाहिए।"

धर्म में मर्यादा

प्रश्न–"शूद्र की कितनी योग्यताएं हैं?"

उत्तर–"शूद्र की बात तो दूसरी, वह तो मनुष्य है। पशु पर्यायवाला मेंढक तक जैन माना गया है, उसको जैन बनने से किसी ने रोका क्या? वह फूल मुख में रखकर भगवान् के दर्शन को जा रहा था। ऐसा तुम नहीं कर सकते। जैन धर्म का कथन व्यवस्थित और नियमानुसार है। पहिले जैन बनो और देखो कि जैन कानून तुम्हारे विषय में क्या आज्ञा देता है। आचार्य शांतिसागर महाराज ने अनेक शूद्रों को जैनी बनाया था। वे जिन मन्दिर में प्रवेश न करके जिन मन्दिर के दर्शन करके प्रसन्न थे। वे मन्दिर के भीतर नहीं गये थे और कहते थे पूर्व भव में महान्

पाप कर हमने यह अवस्था पाई है। अब यदि जिन भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करेंगे, तो आगे हमारी क्या गति होगी? इसलिए अपनी मर्यादा के भीतर प्रवृत्ति करना चाहिए।"

विद्या की बिक्री

वीरसागर महाराज गृहस्थ जीवन में अवैतनिक रूप से धर्मशिक्षण का कार्य करते थे। उनके पूर्व विद्यार्थी चिन्तामणि जैन जालना ने बताया कि "वीरसागर महाराज ने फुलेरा में मुझसे कहा था, तुम पूजा, विधान आदि कराते हो, तुम्हें उसका मूल्य नहीं ठहराना चाहिये। जो भेंट श्रावक देवें, उसमें ही आनन्द मानना चाहिए। अपनी अनमोल विद्या की कीमत नहीं करना चाहिए। तुमने कहा इतना लेंगे, इसका अर्थ है कि तुमने विद्या बेच दी। ऐसा नहीं करना चाहिए।

आचार्य वीरसागर महाराज प्रातः स्मरणीय सत्पुरुष हो गये।

आचार्य नेमिसागर महाराज

आचार्य महाराज तपोमूर्ति थे। उनके शिष्य नेमिसागर महाराज भी बहुत सरल तथा तपःपुनीत जीवन समलंकृत हैं। कहते हैं, हजारों लोगों की दृष्टि के समक्ष ही अपने अद्भुत प्रदर्शन द्वारा जादूगर बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी चकित कर दिया करता है। आध्यात्मिक जादूगर के रूप में आचार्य महाराज ने जिनेन्द्र शासन से पूर्ण विमुख नेमण्णा नाम के कुड़ची के व्यापारी की जीवनी को बदल दिया। वे ही परम श्रद्धालु, श्रेष्ठ तपस्वी, अद्वितीय गुरुभक्त 108 परम पूज्य आचार्य नेमिसागर महाराज के रूप में मुमुक्षुवर्ग का कल्याण करते रहे। उन्हें आचार्य महाराज से मुनिदीक्षा लिए लगभग 44 वर्ष हो गए। एक उपवास, एक आहार का क्रम प्रारम्भ से चलता आ रहा है। इस प्रकार नर जन्म का समय उपवासों में व्यतीत हुआ। उन्होंने तीस-चौबीस व्रत के 720 उपवास किए। कर्मदहन के 156 तथा चारित्र-शुद्धि व्रत के 1234 उपवास किये। इस प्रकार 2110 उपवास किए। लोणंद में महाराज नेमिसागरजी ने सोलहकरण के सोलह उपवास किए थे। इस प्रकार उनकी तपस्या अद्भुत है। दो, तीन, चार उपवास तो जब चाहे तब करते थे।

अज्ञानी विपयासक्त संसारी खाने-पीने में मजा मानता है। चारित्र-चूड़ामणि नेमिसागर महाराज को उपवास में आनन्द आता है। बिना आत्मानंद के कौन अपने 44 वर्ष के साधुजीवन के बहुभाग को उपवासों में व्यतीत करता? अन्य साधुओं

में भी उपवास की प्रवृत्ति पाई जाती है; किन्तु उन लोगों में भी विश्व की दृष्टि से सोचा जाय, तो नेमिसागर महाराज के सामने खड़े होने वाला एक भी व्यक्ति न मिलेगा। तपस्या के क्षेत्र में दिगम्बर जैन साधुओं में इस समय ये ही शिरोमणि हैं। भौतिक विकास के कारण अहंकार के ज्वालामुखी पर नग्न-नर्तन करने वाले देशों के समक्ष भारत, नेमिसागर महाराज सदृश विभूति को ही उपस्थित कर सकता है और पूछ सकता है कि तुम्हारे पास ऐसी ज्योतिर्मयी मूर्ति है क्या? कौन उत्तर देगा? जड़वाद के राक्षस के पादार्चन करने वाले राष्ट्र क्या उत्तर देंगे? भारत में भी अन्य लोग अपने हृदय पर हाथ रखकर सोचें कि उनमें शान्त भाव, आत्मचिंतन, पवित्र साधनापूर्वक हजारों उपवास करने वाली नेमिसागर महाराज सदृश निष्कलंक चारित्र कोई अन्य विभूति है क्या? कौन उत्तर देगा? कोई हो, तो उत्तर मिले। नेमिसागर महाराज तपस्या के क्षेत्र में सबको निरूत्तर बनाते हुए अनुत्तर हैं। महापुराण में लिखा है—'तपः सूते महत्फलम्' यह तपस्या महान् फलों को उत्पन्न करती है। इससे महान् निर्जरा होती है तथा श्रेष्ठ पुण्य बंध होता है। आज नेमिसागर महाराज का नाम सार्थक लगता है। तपस्या के क्षेत्र में भगवान् नेमिनाथ तीर्थंकर का जीव भी लोकोत्तर ही नहीं, लोकोत्तम रहा है। उनका नाम धारण करने वाली निर्ग्रन्थ मुद्राधारी आत्मा का जीवन भी आध्यात्मिक सुवास-सम्पन्न है।

महातपस्वी साधुराज श्री 108 नेमिसागर महाराज के पास बम्बई में सन् 1958 तथा 1951 के दशलक्षण पर्व में पहुंचकर अनेक महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात कीं। उनसे तत्त्वाभ्यासी वर्ग को विशेष लाभ होगा, कारण, नेमिसागर महाराज उच्चकोटि की साधना में सलंग्न तपस्वी हैं। 17 सितम्बर, 1958 को पं० जी ने उनके दर्शन किए थे। आचार्य शांतिसागर महाराज के जीवन संबंधी सामग्री को लक्ष्य कर पं० जी ने उन गुरुदेव से चर्चा प्रारम्भ की।

परिचय

108 नेमिसागर महाराज महान् तपस्वी हैं। उन्होंने कहा, "हमारा और आचार्य महाराज का 50 वर्ष पर्यन्त साथ रहा। चालीस वर्ष के मुनिजीवन के पूर्व मैंने गृहस्थावस्था में भी उनके सत्संग का लाभ लिया था आचार्य महाराज कोन्नूर में विराजमान थे। वे मुझसे कहते थे, "तुम शास्त्र पढ़ा करो। मैं उसका भाव लोगों को समझाऊंगा।" वे मुझे और बन्डू को शास्त्र पढ़ने को कहते थे। मैं पांच कक्षा तक पढ़ा था। मुझे भाषण देना नहीं आता था। शास्त्र बराबर पढ़ लेता था, इससे महाराज मुझे शास्त्र

बांचने को कहते थे। मेरे तथा बन्डू के शास्त्र बांचने पर जो महाराज का उपदेश होता था, उससे मन को बहुत शांति मिलती थी। अज्ञान का भाव दूर होता था। हृदय के कपाट खुल जाते थे। उनका सत्संग मेरे मन में मुनि बनने का उत्साह प्रदान करता था। मेरा पूरा झुकाव गृह त्यागकर साधु बनने का हो गया था।"

पिताजी से चर्चा

एक दिन मैंने अपने पिताजी से कुड़ची में कहा, "मैं चातुर्मास में महाराज के पास जाना चाहता हूं।"

वे बोले, "तू चातुर्मास में उनके समीप जाता है, अब क्या वापिस आता है?" पिताजी मेरे जीवन को देख चुके थे, इससे उनका चित्त कहता था कि आचार्य महाराज का महान् व्यक्तित्व मुझे संन्यासी बनाए बिना नहीं रहेगा। यथार्थ में हुआ भी ऐसा।"

जीवनधारा में परिवर्तन

"चार माह के सत्संग मे मेरी जीवनधारा बदल दी। मैंने महाराज से कहा, "महाराज। मेरे दीक्षा लेने के भाव हैं। अपने कुटुम्ब का परवानगी लेने का विचार नहीं है। घरवाले कैसे मंजूरी देंगे? मुफ्त में नौकर मिलता है, जो कुटुम्ब की सेवा करता रहता है, तब फिर परवानगी (गृह त्याग की स्वीकृति) कौन देगा?"

महाराज ने कहा, "ऐसा शास्त्र में कहा है कि आत्म-कल्याण के हेतु आज्ञा प्राप्त करना परम आवश्यक नहीं है।"

"मेरे दीक्षा लैने के भाव अठारह वर्ष की अवस्था में ही उत्पन्न हो चुके थे। उसके पूर्व की मेरी कथा बड़ी अद्भुत थी।"

पूर्व जीवन में मुस्लिम प्रभाव

नेमिसागर महाराज का पूर्व जीवन सचमुच में आश्चर्यप्रद था। उन्होंने यह बात बताई थी, "मैं अपने निवासस्थान कुड़ची ग्राम में मुसलमानों का बड़ा स्नेहपात्र था। मैं मुस्लिम दरगाह में जाकर पैर पड़ा करता था। सोलह वर्ष की अवस्था तक मैं वहां जाकर धूपबत्ती जलाता था। शक्कर चढ़ाता था।" कुड़ची में यवनों की अधिक संख्या है। यहां जाकर वह घर भी पं० जी ने देखा है, जहां नेमण्णा के रूप में उनका निवास था।

"जब मुझे अपने धर्म की महिमा का बोध हुआ, तब मैंने दरगाह आदि की

तरफ जाना बन्द कर दिया। मेरा परिवर्तन मुसलमानों को सह्य नहीं हुआ। वे लोग मेरे विरुद्ध हो गए और मुझे मारने का विचार करने लगे।" जहां मौका मिलता है, यवन-वर्ग बलप्रयोग करता आया है।

ऐनापुर में स्थान-परिवर्तन

"ऐसी स्थिति में अपनी धर्म-भावना के रक्षण निमित्त में कुड़ची से चार मील की दूरी पर स्थित ऐनापुर ग्राम में चला गया। वहां के पाटील की धर्म में रूचि थी। वह हम पर बहुत प्यार करता था। इससे मैंने ऐनापुर में रहना ठीक समझा।"

रामू के साथ खेती

"अपने जीवन निर्वाह के लिए मैंने, रामू ने (जो बाद में कुंथुसागर महाराज के रूप में प्रसिद्ध हुए) तथा एक और व्यक्ति ने मिलकर ठेके पर जमीन ली।"

"आचार्य महाराज मसलापुर में थे। मैं उनके पास एक माह रहा था। उसके पश्चात् महाराज चातुर्मास के हेतु ऐनापुर पधारे। मैं हमेशा महाराज के पास रहता था। खेती का कुछ भी ध्यान नहीं था। उनके पास मन ऐसा लग गया था कि मुझे अपने भविष्य का कुछ भी ध्यान नहीं था। मेरी सारी स्थिति से महाराज परिचित थे।"

एक दिन

वे बोले, "तुमने बिना कारण खेती में पैसा डाल दिया। ऐसा क्यों किया?"

"मैं और रामू महाराज के पास अधिक समय देते थे। हमारा भाव दीक्षा लेने का हो गया था, इससे संसार में फंसाने वाले आरम्भ की ओर हमारा चित्त नहीं लगता था।"

रामू (कुंथुसागरजी) के साथ शर्त

"चातुर्मास के पश्चात् महाराज को हमने और रामू ने शेडवाल पर्यन्त पहुंचाया। उस समय शेडवाल में दिगम्बर जैन महासभा का उत्सव होने वाला था। मैंने और रामू ने एक-दूसरे के हाथ पर हाथ मारकर यह शर्त की थी कि छह माह के भीतर अवश्य दीक्षा लेंगे।"

"मैंने नेमिसागर महाराज से पूछा—"आचार्य महाराज की ऐसी कौन-सी बात

थी, जिससे आपका मन ममता के एकमात्र केन्द्र गृह तथा परिवार के परित्याग के लिए तैयार हो गया? साधु का जीवन पुष्प-शय्या नहीं है। वह कठिन तपस्या परिपूर्ण है।"

आचार्य महाराज की वाणी

नेमिसागर महाराज ने बताया—"उस समय आचार्य महाराज ने निर्ग्रन्थ दीक्षा नहीं ली थी। वे क्षुल्लक थे। मैं और बंडू उनके पास तेरदल में रहे थे। बन्डू शास्त्र पढ़ता था मैं सुनता था। भगवती आराधना, तत्त्वार्थसार आदि ग्रन्थों का स्वाध्याय हो चुका था।

गजस्नान

तेरदल से विहार कर महाराज कुड़ची ग्राम में आए। उनका आहार हमारे घर में हुआ। आहार के उपरान्त वे बोले, "तुम्हारी भक्ति, पूजा, अर्चा आदि कार्य गज के स्नानतुल्य हैं? देखो! पूजा आदि सत्कार्यों के द्वारा तुमने निर्मलता प्राप्त की। यह तो स्नान हुआ। इसके पश्चात् तुमने आरम्भ के कार्योंमें पड़कर पापका संचय किया। इसके द्वारा तुमने अपने ऊपर फिर से मिट्टी डाल दी। ऐसा गृहस्थ का जीवन होता है।" यथार्थ में गृहस्थ की अवस्था में सावधानी रखते हुए भी प्रमाद होता है, इसी कारण सर्वपरिग्रहत्यागी दिगम्बर अवस्थाधारी मुनि पदवी प्राप्त किए बिना सच्चे सुख का लाभ असम्भव कहा गया है।

सर्वप्रथम ऐलक शिष्य

नेमिसागर ने बताया, "आचार्य महाराज जब गोकाक पहुंचे, तब वहां मैंने और पायसागर ने एक साथ ऐलक दीक्षा महाराज से ली थी। उस समय आचार्य महाराज ने मेरे मस्तक पर पहले बीजाक्षर लिखे थे। मेरे पश्चात् पायसागर के दीक्षा के संस्कार हुए थे।"

समडोली में निर्ग्रन्थ दीक्षा

"दीक्षा के दस माह बाद मैंने समडोली में निर्ग्रन्थ दीक्षा ली थी। वहां आचार्य महाराज ने पहले वीरसागर के मस्तक पर बीजाक्षर लिखे थे, पश्चात् मेरे मस्तक पर लिखे थे। इस प्रकार मेरी और वीरसागर की समडोली में एक साथ मुनि दीक्षा हुई थी। वहां चन्द्रसागर ऐलक बने थे।"

घर की बातें

इनके पिता का नाम अण्णा था। घर में नेमिसागरजी को नेमण्णा कहते थे। नेमिसागर महाराज के एक भाई की पैदा होते ही मृत्यु हुई थी। दूसरे भाई की मृत्यु सात-आठ वर्ष की अवस्था में हुई थी। नेमण्णा ज्येष्ठ थे। माता की मृत्यु के समय इनकी अवस्था लगभग बारह वर्ष की थी। माता की धर्म-रूचि बहुत थी। माता सरल परिणामी, परोपकार रत साधु स्वभाव वाली थी। दीनजनों पर माता का बड़ा प्रेम था।

इनके पिता अण्णाजी बहुत बलवान थे। पांच-छः गुंडी पानी का हंडा पीठ पर रखकर लाते थे।

नेमिसागर महाराज की मुनिपद धारण की भावना बाल्यकाल से ही थी। उन्होंने बताया–"हमारी 15 वर्ष की अवस्था में ही मुनि बनने की इच्छा थी। हम ज्योतिषी से पूछते थे कि हमारी इच्छा पूर्ण होगी या नहीं।"

नेमिसागर नाम का हेतु

इनकी माता का नाम शिवादेवी ज्ञातकर मैंने कहा–"महाराज भगवान् नेमिनाथ तीर्थंकर की माता का नाम शिवादेवी था। आपकी माता का भी यही नाम था। यही समता महत्त्वपूर्ण है।"

इस पर नेमिसागर महाराज ने कहा, "मेरा नाम नेमण्णा था। गोकाक के मन्दिर में हमारी ऐलक दीक्षा का संस्कार हुआ था। वहां मूलनायक नेमिनाथ भगवान् थे। इस कारण आचार्य महाराज ने हमारा नाम नेमिसागर रखा था।"इस प्रकार नेमिनाथ भगवान् के सान्निध्य में शिवादेवी के पुत्र नेमण्णा को ऐलक दीक्षा देते समय नेमिसागर नाम रखना आचार्य महाराज की विशिष्ट दृष्टि को सूचित करता है।

ऐलक दीक्षा का रहस्य

नेमिसागर महाराज ने कहा, "मैंने आचार्य महाराज से मुनि दीक्षा मांगी थी; किन्तु उन्होंने कहा, थोड़े दिन ऐलक बनो। कुछ समय बाद मुनिदीक्षा देंगे।" वे यह भी कहते थे, "हमारा क्या जाता है, दीक्षा लेना है, तो ले लो।" ऐलक दीक्षा देने का उनका अभिप्राय था कि मुनिपद का पूर्व अभ्यास हो जाय। स्वयं मुनि बनने के पूर्व महाराज क्षुल्लक रह चुके थे। स्व० वर्धमान सागर महाराज को मुनि बनाने के पूर्व उन्होंने ऐलक दीक्षा दी थी। उसके पहले वे क्षुल्लक रह चुके थे।

आजकल कोई-कोई साधु पूर्व जीवन का निरीक्षण किए बिना सहसा मुनिदीक्षा दे देते हैं। उसका परिणाम शिथिलाचार की वृद्धि से देखने में आता है। दीक्षा आत्म-कल्याण का साधन है, अहंकार पोषण का अंग नहीं है।

विनोद द्वारा शिक्षा

आचार्य महाराज मधुर विनोद की चाशनी में कर्तव्यपालन की औषधि दिया करते थे। नेमिसागर महाराज ने बताया, "एक दिन सामायिक करते समय मुझे तन्द्रा आ गई, तब महाराज ने सामायिक के उपरान्त कहा, "नेमिसागर! तुम सामायिक बहुत अच्छी करते हो।" इस प्रकार आचार्य महाराज शिष्यों के जीवन को उज्ज्वल बनाते थे।"

निद्रा का कारण

नेमिसागर महाराज ने एक अनुभव पूर्ण बात कही, "विचार चालू रहने पर निद्रा नहीं आती। विचार बन्द होते ही निद्रा सताती है।" एक वार की सामायिक का हाल नेमिसागर महाराज ने इस प्रकार बताया, "हम मुजफ्फरनगर में सामायिक को खड़े हुए थे। न जाने क्यों, हम तत्काल धड़ से जमीन पर गिर पड़े थे।"

घुटनों के बल पर आसन

नेमिसागर महाराज घुटनों के बल पर खड़े होकर आसन लगाने में प्रसिद्ध रहे हैं। मैंने पूछा—"इससे क्या लाभ होता है?" उन्होंने बताया, "इस आसन के लिए विशेष एकाग्रता लगती है। इससे मन का निरोध होता है। बिना एकाग्रता के यह आसन नहीं बनता है। इसे 'गोडासन' कहते हैं। इससे मन इधर-उधर नहीं जाता है और काय-क्लेश-तप भी पलता है। दस-बारह वर्ष पर्यन्त मैं वह आसन सदा करता था, अब वृद्ध शरीर हो जाने से उसे करने में कठिनता का अनुभव होता है।"

गोडासन

मैंने पूछा, "महाराज! गोडासन करते समय घुटनों के नीचे कोई कोमल चीज आवश्यक है या नहीं?"

वे बोले, "मैं कठोर चट्टान पर भी आसन लगाकर जाप करता था। भयंकर से भयंकर गर्मी में भी गोडासन पाषाण पर लगाकर सामायिक करता था। मेरे साथी

अनेक लोगों ने इस आसन का उद्योग किया; किन्तु वे सफल नहीं हुए। ध्यान के लिए सामान्यतः पद्मासन, पल्यंकासन और कायोत्सर्ग आसन योग्य हैं। अन्य प्रकार का आसन कायक्लेश रूप है। गोडासन करने की प्रारम्भिक अवस्था में घुटनों में फफोले उठ आए थे। मैं उनको दबाकर बराबर अपना आसन का कार्य जारी रखता था।"

अग्निकाय का जीव

उन्होंने यह भी बताया, "शिखरजी से लौटता हुआ संघ वैशाख मास में इलाहाबाद आया था। वहां मैं छत पर खड़े होकर कायोत्सर्ग करता था, उस समय बम्बई वाले संघपति आए। उन्होंने चटाई रखी और उस पर खड़े होकर मेरे ऊपर छाता लगा दिया। उस समय क्या सामायिक बनती? मैंने आठ-दस णमोकार की माला फिराई। इस तरह सामायिक पूरी हुई। उसके पश्चात् आचार्य महाराज के पास यह खबर पहुंची, तब वे बोल उठे—"नेमिसागर तो अग्निकाय का जीव है।" मुझे भीषण गर्मी में भी कष्ट नहीं होता। हमारा शरीर जाड़े को ढीला है।"

शांति का उपाय

मैंने कहा, "मेरा छोटा-सा प्रश्न है, शांति का क्या उपाय है?"

उन्होंने कहा—"संकल्प-विकल्प त्यागने से शांति मिलती है। इससे कर्मों का क्षय होता हैं परिणामों में जितनी-जितनी विशुद्धता होगी, उतनी-उतनी शांति की उपलब्धि होगी। मलिन परिणामों से शांति दूर होती है और अशांति की जागृति होती है। परिणामों की निर्मलता के लिए सत्संगति चाहिये। विपयभोग की सामग्री का त्याग भी आवश्यक है। संगति के योग्य सज्जन पुरुपों का समागम दुर्लभ रहता है। सत्समागम न मिले, तो अच्छे-अच्छे शास्त्रों का स्वाध्याय, मनन करें। ग्रन्थों का अभ्यास भी सत्समागम ही तो है। प्रत्येक ग्रन्थ के भीतर महान् ज्ञानी, संयमी, सत्पुरुष बैठे हैं। इस दृष्टि से जिनवाणी के स्वाध्याय का बड़ा महत्त्व है।"

त्याग में आनन्द

"त्याग के द्वारा मन शांत बनता है। त्याग में सुख है। भोग में दुःख है। यदि शक्ति अल्प है, तो थोड़ा त्याग करो। इन्द्रियों ने जीव को दास बना रखा है। इन्द्रियों के दास न बनकर इन्द्रियों को दास बनाना हितकारी हे। मन के भीतर की खराबी दूर करना चाहिए। अन्तर्दृष्टि होने का प्रयत्न करते जाना चाहिए। परिश्रमपूर्वक

पढ़ने वाला अज्ञानी भी विद्वान् बन जाता है। आत्मा की ओर रुचि होने पर तुम्हारा मन दूसरी ओर नहीं जावेगा। कारण, मन की उधर ही प्रवृत्ति होती है, जहां उसकी रुचि पाई जाती है। भोगों में अरुचि तथा आत्मतत्त्व में रुचि होने पर परिणामों में शांति उत्पन्न होती है।" पर्यूषण पर्व में व्रत करके लोग अनुभव के आधार पर त्याग को गौरव प्रदान करते हैं। उस त्याग के जीवन को दिव्य जीवन मानते हैं।

मार्मिक पद्य

सामायिक पाठ का यह पद्य नेमिसागर महाराज को प्रिय है। एक धार्मिक सज्जन कहते थे, कुंथुसागर महाराज को भी यह पद्य प्रिय रहा है। इस प्रकार दोनों पुराने साथी साधु इस पद्य द्वारा आनन्द लेते थे–

बोधिः समाधिः परिणामशुद्धिः,
स्वात्मोपलब्धिः शिवसौख्यसिद्धिः।
चिन्तामणिं चिंतितवस्तुदाने,
त्वां वंद्यमानस्य ममास्तु देवि ॥[1]

वासना छोड़ो

वे कहने लगे–"श्वास का रोकना समाधि नहीं है। मन का बाल-बच्चे, धन-धान्य, मकान आदि की ओर नहीं जाना तथा स्वोन्मुख बनना समाधि है। बाह्य पदार्थ न हों; किन्तु उस ओर मन दौड़ा, तो समझना चाहिए कि बाह्य पदार्थ पास में ही हैं।" उनके ये उद्‌गार अनमोल हैं–"वासना है, तो पदार्थ है ही।" अभ्यास द्वारा वासना पर विजय प्राप्त होती है।

चरणों में शुभ चिन्ह

उन्होंने बताया–"आचार्य महाराज के पैरों में ध्वजा का चिन्ह था। उन्होंने धर्म की ध्वजा फहराकर उस चिन्ह की सार्थकता द्योतित की। उनके पांव में चक्र भी था। इससे वे सदा भ्रमण किया करते थे।" उनके शरीर में अनेक शुभ चिन्ह सामुद्रिक शास्त्रानुसार थे। उनके हाथमें दिव्यदर्शन (Intution) की रेखा देखकर हस्तरेखा विशेषज्ञ आश्चर्यान्वित होते थे।

---

1. "हे देवि सरस्वती! इच्छित पदार्थ को प्रदान करने में चिन्तामणि समान तुम्हारी वंदना करने वाले मुझको बोधि, समाधि, परिणाम शुद्धि, आत्म स्वरूप की प्राप्ति तथा मोक्ष-सुख की उपलब्धि हो।"

रोग में दृढ़ता

एक दिन नेमिसागर महाराज की पीठ में बहुत दर्द हो गया। उन्होंने दवा नहीं लगाने दी। जब मैंने आग्रह किया, तो कहने लगे—"आदमी को रोग न होगा, तो क्या पत्थर को होगा। 'मन चंगा, तो कठौती में गंगा।' हमारे शरीर में अनेक रोग होते हैं, हम परवाह नहीं करते। रोग आओ या जाओ। साधारण बीमारी से डरने लगे, तो क्या होगा? रोग को भोजन नहीं मिलेगा, तो वह नहीं टिकेगा। भोजन न मिलने पर मेहमान कितने दिन रहेगा? पैसा पास में रहता है, तो बीमारी में डॉक्टर, वैद्य, मुम्बई, कलकत्ता सब याद आते हैं। पैसा नहीं है, तो कहां का मुम्बई, कहां का कलकत्ता और कहां का डॉक्टर? शरीर के एक अंगुल क्षेत्र में 96 रोग कहे गए हैं। तब फिर किस-किस रोग की फिकर करना? इससे हम रोग की चिन्ता नहीं करते।"

विदेश जाने वाले छात्र को उपदेश

नेमिसागर महाराज के पास एक जैन तरुण आया, जो अमेरिका प्रोफेसर होकर जा रहा था। महाराज ने उससे कहा था—"तुम अच्छे कुल के हो। अपने कुल की लाज रखना। अभक्ष्य भक्षण नहीं करना।"

कब पेंशन लोगे?

सत्तर वर्ष के एक धार्मिक सेठ महाराज के पास आए। नेमिसागर महाराज ने कहा—"सेठजी! अंग्रेज लोग तीस वर्ष की नौकरी के बाद पेंशन दिया करते थे, अब तुम सत्तर वर्ष के हो गए। घर-गृहस्थी की जिम्मेदारी से कब पेंशन लोगे?" महाराज का प्रश्न बड़ा मार्मिक है। आज के राजनीतिज्ञ अपना एक पैर यममंदिर में रखते हुए भी राजनीति के प्रपंच में फंसे रहते हैं। गृहस्थ यह बात भूल गया है कि गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम भी हैं। उनकी विस्मृति का ही परिणाम है कि जीव शहद में गिरी हुई मक्खी के समान छटपटा कर मरण करता है और असमाधि पूर्ण मृत्यु के कारण नरभव को यों ही गमा देता है।

महत्त्वपूर्ण विचार

एक दिन नेमिसागर महाराज ने बड़े महत्त्व के विचार प्रकट किए थे। उन्होंने कहा था—"अनुभव, शास्त्र (आगम) तथा व्यवहार, इन तीनों को ध्यान में रखकर

कार्य करना चाहिए।" उनकी यह शिक्षा बहुत उपयोगी है–"पूर्व में उपार्जित पुण्य कर्मोदय से सुखी, समृद्ध तथा वैभववान को देखकर लोगों को नहीं जलना चाहिए। उससे गुण लेना चाहिए कि इस जीव ने पूर्व में पुण्य द्वारा ऐसी सुन्दर सामग्री प्राप्त की है। हमें भी ऐसा पुण्य का संचय करना चाहिए। जलते रहने से या निन्दा करने से हित नहीं होता। बिना पुण्य के कोई धनवान तथा सुखी नहीं बनता। जो कहते हैं कि गरीबों का शोषण कर, उनका धन लूटकर, धनवान समृद्ध बने हैं; वे यह बतायें कि धनवान बनने से उनको किसने रोका है? पुण्यवान व्यक्ति धन तथा वैभवहीन अवस्था को त्यागकर अल्प प्रयत्न से विभूतिवान होता है।

विनय द्वारा विकास

महाराज की यह शिक्षा सर्वसाधारण के लिए उपयोगी है–"बड़प्पन अपने-आप नहीं आता। छोटों की सेवा द्वारा बड़प्पन मिलता है। विनयवान सुखी रहता है। नम्र चींटी तिजोरी के भीतर रखे हुए मिष्ट पदार्थ को खाती है। हाथी को बड़ा होने पर भी गन्ना खाने को नहीं मिलता है। यदि हाथी गन्ने के खेत में जाता है, तो उसकी पीठ पर लट्ठ प्रहार होता है। विनयवान चींटी के समान सदा नम्र उद्योग द्वारा मोक्ष को प्राप्त करता है।

आचार्य महाराज एक उदाहरण देते थे, यदि एक ऊंचे खंभे के शिखर पर सुई लगाकर उसके ऊपर एक अमरूद का फल रख दिया जाय, तो भी छोटी-सी चींटी उस खम्भे का चक्कर लगाती हुई ऊपर पहुंचती है, धीरे-धीरे वह उस फल को खाकर पोला करती है, इससे वह फल जमीन पर गिर जाता है, इसी प्रकार उद्योगी विनयवान मोक्ष प्राप्त करता है। शूरवान साहसी व्यक्ति अल्पकाल में मुक्त होता है। अंजन चोर ने साहस करके अपना जीवन सुधारा और वह पवित्र बन मोक्ष गया।"

तोते का आदर्श

पक्षियों में तोता एक विलक्षणता धारण करता है, वह उड़ता जाता है और वृक्ष के फल, धान्यादि को खाता जाता है। अन्य पक्षी की तरह उसे बैठने को स्थान नहीं लगता तोते की तरह विषयों में अनासक्त होकर, जीवन व्यतीत करने वाला शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त करता है। प्रमादी व्यक्ति भरत महाराज का उदाहरण दे अनासक्तिपूर्वक विषयसेवन में प्रवृत्ति करता है। यह भ्रान्त कल्पना है।

उपयोगी शिक्षा

बुराई अपने-आप आती है। उसे दूर करने में उद्योग लगता है। जैसे धन कमाने में परिश्रम करना पड़ता है, पर धन के खोने में कोई कोशिश नहीं करनी पड़ती। दुराचारी बनने में कुछ भी श्रम नहीं लगता है, सदाचारी बनने के लिए आत्मा में शक्ति चाहिए। बुजदिल, डरपोक इन्द्रियों की गुलामी करता है।

भाषण का अभ्यास

नेमिसागर महाराज ने बताया—"पहले मुझे बोलना नहीं आता था। आचार्य महाराज ने मुझे और पायसागर को भाषण देने को कहा था। पहले बोलते नहीं बनता था, इससे मैं दुःखी होकर जंगल में जाता था। वहां क्या प्रयोजन सिद्ध होता? इससे मैंने दस-बीस पुस्तकें इकट्ठी कीं। उनमें से उपयोगी बातों का संग्रह एक कापी में किया। मैं उच्चारण करके उस पाट को पढ़ा करता था, धीरे-धीरे बोलते बनने लगा।"

क्षमा याचना निर्मलता का हेतु है

एक दिन नेमिसागर महाराज भक्ति-पाट पढ़ रहे थे; पश्चात् प्रतिक्रमण पढ़ते समय अपने दोषों की क्षमा मांगने का पाट पढ़ते थे। मैंने कहा—"महाराज! आप बड़े हैं। छोटों-से क्षमायाचना करने से आत्मा में क्या लघुता नहीं आती?"

उन्होंने कहा—"क्षमा मांगना, प्रणाम करना नहीं है। मन में निर्मलता आने पर क्षमा मांगने के भाव होते हैं। तीर्थंकर भगवान् एकेन्द्रियादि जीवों से क्षमा मांगते हैं। मलिन मन क्षमा नहीं मांगता, वह क्रोध करता है। क्षमा-मांगने पर बदला लेने के दूषित भाव दूर हो जाते हैं। बदला लेने के दूषित भावों के द्वारा कर्मों का बंध होता है। इससे क्षमा मांगना मुमुक्षु मानव का भूषण है, कर्तव्य भी है।"

जीवित तपोधर्म

उत्तम तप की पूजा के पाठ को पढ़ते हुए मैं अर्घ चढ़ाने को 108 नेमिसागर महाराज के पास गया और उनको अर्घ चढ़ाया। महाराज ने पूछा—"क्या पूजा समाप्त हो गई?"

मैंने कहा—"महाराज! दशलक्षण पूजा कर रहा था। तप रूप सातवें धर्म की पूजा करते समय चित्त में विचार आया, कि जब महातपस्वी गुरु के रूप में आप

यहां विराजमान हैं, तब जीवित तपोधर्म को क्यों न अर्घ चढ़ाऊं? इससे मैं आपके पास आया। आचार्य शांतिसागर महाराज के जीवनकाल में मैं पर्यूषण में उनके पास जाता रहा हूं। बाहर के अनेक आमंत्रण आने पर भी में उनके पास पहुंचा करता था, इसका कारण यह था कि उनके भीतर जाज्वल्यमान दशधर्मों का प्रत्यक्षीकरण होने से सजीव धर्मों की पूजा का सौभाग्य मिलता था। आज आपके पास भी मुझे वही लाभ मिल रहा है।" इसके अनंतर मन में एक विकल्प आया। मैंने सोचा, महाराज से समाधान प्राप्त कर लूं, अन्यथा पूजा करने के बाद वह विचार विस्मृत न हो जाय।

मैंने कहा—"आप आचार्य शांतिसागर महाराज को प्रणाम करते हैं क्या? पहले करते थे; क्योंकि वे महाव्रती साधुराज थे। अब तो वे सुरराज हुए होंगे?"

संयमी पर्याय को प्रणाम

नेमिसागर महाराज ने कहा—"हम सदा आचार्य महाराज को प्रणाम करते हैं। उनके चरणयुगल हमारे हृदय में विराजमान हैं।" महाराज नेमिसागरजी ने यह मार्मिक बात कही थी कि—"हम शांतिसागर महाराज की संयमयुक्त पर्याय को ध्यान में रखकर प्रणाम करते हैं। उनकी संयमरहित देव पदवी हमारी दृष्टि में नहीं रहती। हम अव्रती देव पर्यायवाली आत्मा को कैसे प्रणाम करेंगे? आगम की जैसी आज्ञा है, वैसा हम करते हैं।"

देव पर्याय को नमस्कार नहीं

मैंने पूछा—"महाराज! यदि आचार्य महाराज का जीव यहां समक्ष देवरूप में दर्शन दे, तो क्या उनको भी नमस्कार न करेंगे?" नेमिसागर जी ने कहा—"हां! हम उन्हें नमस्कार नहीं करेंगे।"

इस पर मैंने पूछा—"अच्छा यह बताइये कि क्या वह सुरराज की पर्यायधारी आचार्य महाराज की आत्मा आपको प्रणाम करेगी या नहीं?" उन्होंने कहा—"अवश्य! आगम की आज्ञा में आचार्य महाराज को सदा विश्वास रहा है, इस कारण वे आगम की आज्ञानुसार सकल संयमी की वंदना करेंगे, अन्यथा उनकी विशुद्ध श्रद्धा को दोष लगेगा।"

मुसलमान वर्ग का प्रेम

महाराज के सुन्दर तर्क शुद्ध समाधान से मन को बड़ी शांति मिली। पूजा

के पश्चात् मैं महाराज के पास आया तथा देखा कि एक मुसलमान तरुण उनसे प्रार्थना कर रहा था—"महाराज! आप कुड़ची ग्राम के हैं। वहां की आम जनता आपके दर्शन करनी चाहती है।"

महाराज ने कहा—"तुम लोग मुसलमान हो। हम हैं, दिगम्बर साधु। हमारे दर्शन से तुम्हारे यहां के मुसलमानों का मन दुःखी होगा। उनको क्षोभ प्राप्त होगा।"

वह मुसलमान भक्त बोला—"आप हमारे भी साधु हैं। आपके दर्शन से हम सबको बहुत खुशी होगी। आपके खिलाफ कोई नजर नहीं उठा सकेगा। माफ कीजिए! जो आपकी तरफ बुरी निगाह करेगा, उसकी खैरियत न समझिए।" महाराज ने बताया कि इस प्रकार के अनेक लोग उनके पास आते रहते हैं। अपने रत्न का मूल्य दूसरा करता है। दुर्भाग्य की बात है कि हम समीप में रत्नराशि होते हुए भी दरिद्री की तरह दुःख प्राप्त कर रहे हैं। यवन तो जैन साधु की भक्ति करता है और दुष्ट पंडित तथा अविवेकी जैन धनिक साधु निन्दा करते नहीं थकते।

नातेपुते की घटना

उन्होंने कहा—"आचार्य शांतिसागर महाराज ने मुझे आज्ञा दी कि मैं भी एक माह अन्यत्र विहार करूं। मैं बारामती से दहीगांव की तरफ गया था। नातेपुते के समीप पहुंचने पर कुछ विरोधी व्यक्तियों ने काले झण्डे दिखाये। लोक-व्यवहार में प्रवीण न होने के कारण मैं यह नहीं जान सका कि काले झण्डों का क्या मतलब है? जैन मण्डली की तरफ से बाजे बज रहे थे। मैंने कहा, बाजे बन्द करो। बाजों से क्या प्रयोजन है? मैं विरोध-प्रदर्शक झण्डे वालों के समुदाय में चला गया। वहां से मैं जैनमन्दिर में पहुंच गया। कलेक्टर ने आकर हमें बताया कि गांव में गड़बड़ी होने की सम्भावना होने से उनका आगमन हुआ है। हमने कलेक्टर को गृहस्थ धर्म की आरम्भिक अवस्था से लेकर मुनियों के 28 मूलगुणों आदि का स्वरूप बताया और कहा कि हमें अपने शास्त्र की आज्ञानुसार आहार लेने नगर में जाना पड़ता है। शौच के लिए भी हमें नगर के मध्य होकर बाहर जाना पड़ता है।"

"हमारी बातों को सुनकर कलेक्टर ने हमारे विहार का समय नियत कर दिया। हमने कलेक्टर से कहा कि आप सुबह 8 बजे से 11.30 बजे तक और शाम को 3 बजे से 5 बजे तक हमारे विहार का काल नियत कर दें; किन्तु यदि शौच की बाधा असमय में आ जाय, तो आप बतावें क्या किया जायेगा? वे निरूत्तर हो

गये। हम शासकीय आदेश की उपेक्षा करते हुए गांव में से गये। वापसी में हमने देखा कि एक पुलिस की मोटर खड़ी है। फौजदार के साथ पांच सिपाही हथकड़ी लेकर हमारे आने के मार्ग पर खड़े हैं। हम भूमि पर दृष्टि रखते हुए गाड़ी के पास आये और आगे चले गये। हमें किसी ने नहीं रोका। इस घटना के पश्चात् आचार्य महाराज ने मुझे अपने पास बुला लिया था।"

देहली चातुर्मास की विशेष घटना

नेमिसागर महाराज ने चातुर्मास की एक बात पर एक प्रकार प्रकाश डाला था—"देहली में संघ का चातुर्मास हो रहा था। उस समय नगर के प्रमुख जैन वकील ने संघ के नगर में घूमने की सरकारी आज्ञा प्राप्त की थी। उसमें नई दिल्ली, लालकिला, जामा मस्जिद, वायसराय भवन आदि कुछ स्थानों पर जाने की रोक थी।

जब आचार्य महाराज को यह हाल विदित हुआ, तब उनकी आज्ञानुसार मैं, चन्द्रसागर, वीरसागर उन स्थानों पर गए थे, जहां गमन के लिए रोक लगा दी गई थी। आचार्य महाराज ने कह दिया था, जहां भी विहार में रोक आवे, तुम वहां ही बैठ जाना। हम सर्व स्थानों पर गए। कोई रोक-टोक नहीं हुई। उन स्थानों पर पहुंचने के उपरान्त फोटो उतारी गई थी, जिससे यह प्रमाणित होता था कि उन स्थानों पर दिगम्बर मुनि का विहार हो चुका है।"

नेमिसागर महाराज ने मुम्बई में उन स्थानों पर भी विहार किया है, जहां मुनियों के विहार को लोग असम्भव मानते थे। हाईकोर्ट, समुद्र के किनारे जहां जहाजों से माल आता-जाता है। ऐसे प्रमुख केन्द्रों पर भी नेमिसागर महाराज गये इसके सुन्दर चित्र भी खिंचे हैं। इनके द्वारा दिगम्बर जैन मुनिराज के सर्वत्र विहार का अधिकार स्पष्ट सूचित होता है। साधुओं की निर्भीकता पर भी प्रकाश पड़ता है।

कल्याण साधक त्याग

महाराज ने उपदेश के अंत में ये मार्मिक शब्द कहे थे—"जिसका पाप है, उसे ही वह खाता है। श्रावक धर्म का पालन करो। त्याग बिना कल्याण नहीं। भावना करो कि कब संसार से हम छूटें?"

यह कितनी अपूर्व बात है—"भावना करो कि हम संसार से कब छूटें?" हम संसार में फंसने का सदा उद्योग करते हैं। यथार्थ में शाश्वतिक शान्ति का बीजारोपण तब होता है, जब अन्तःकरण में यह भावना उत्पन्न होती है कि अब हम संसार

के जाल से निकलकर स्व अधीन बने। इस स्वतन्त्रता का मार्ग वीतराग शासन का शरण ग्रहण करना है। प्रभो! प्रत्येक आत्मा में ऐसी सामर्थ्य उत्पन्न हो जाय कि वह दुःखमय संसार से छूटकर आनन्दधाम निर्वाण का अधिपति बन जाय।

नेमिसागर महाराज का त्यागमय, तपोमय, सौरभमय जीवन बना तथा वह प्रतिक्षण परिशुद्ध होता जा रहा है, इसके कारण आचार्य शांतिसागर महाराज थे। उनके उज्ज्वल जीवन ने कितने भव्यों का उपकार नहीं किया है? शिष्य मंडली के सुविकसित, समुन्नत तथा समुज्ज्वल जीवन में आचार्य महाराज का पवित्र प्रभाव सुस्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। भावना के साथ यथाशक्ति प्रवृत्ति भी हितकारी है। मक्कार लोग कोरी भावना का प्रदर्शन कर स्व तथा पर को ठगते हैं।

नेमिसागर महाराज के विचार

सन् 1958 के व्रतों में 108 नेमिसागर महाराज के लगभग दस हजार उपवास पूर्ण हुए थे और चौदह सौ बावन गणधर सम्बन्धी उपवास करने की नवीन प्रतिज्ञा उन्होंने ली, उस समय मैंने उनसे लोकहित को लक्ष्यकर पूछा—"महाराज! लगभग दस हजार उपवास करने रूप अनुपम तथा लोकोत्तर तपः साधना करने से आपके विशुद्ध हृदय में भारत देश का भविष्य कैसा नजर आता है? देश अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुष्काल, अन्नाभाव आदि के कष्टों का अनुभव कर रहा है। आपका हृदय इस विपत्ति-मालिका से मुक्ति पाने का क्या उपाय बताता है?"

विपत्ति से छूटने का उपाय

महाराज नेमिसागर जी ने कहा—"जब भारत पराधीन था, उस समय की अपेक्षा स्वतन्त्र भारत में जीववध, मांसाहार आदि तामसिक कार्य बड़े वेग से बढ़ रहे हैं। इनका ही दुष्परिणाम अनेक कष्टों का आविर्भाव तथा उनकी वृद्धि है।"

आचार्यश्री का कथन

आचार्य महाराज सदा कहा करते थे—"मांसाहार, जीवहिंसा, अतिलोभ, व्यभिचार-वृद्धि, विलासिता के साधनों की प्रचुरता के द्वारा कभी भी आनन्द नहीं मिल सकता है। भारत शासन यदि प्रजा को सुखी देखना चाहता है, तो उसका पाप-कार्यों से विमुख होना जरूरी है। हरिण, बन्दर, मछली आदि जीवों की हत्या के कार्यों में राजसत्ता द्वारा उद्योग किया जाना सब संकटों का बीज है।

व्यक्तिगत पापाचारों को पूर्णरूप से रोकना सहज नहीं है; किन्तु शासन-सत्ता सहज ही अपने पाप-व्यवसायों को रोककर अहिंसामूलक प्रवृत्तियों को प्रश्रय प्रदान कर सकती है। यदि भारत के कर्णधारों ने अपना रंग-ढंग न बदला, तो देश उत्तरोत्तर अधिक संकटग्रस्त होगा।''

ये बहुमूल्य अनुभव 77 वर्ष की अवस्थावाले मुनिराज ने हमें सुनाये थे। उनके कथन का औचित्य सूर्यप्रकाश के समान स्पष्ट है। देश में जो सात्त्विक जीवित है, उसका संगठित होकर तामसिक विषमयी प्रवृत्ति दूर करने का उद्योग वांछनीय है। पुण्य प्रवृत्तियों के आधार पर ही आनन्द का भवन खड़ा किया जा सकता है।

●●●

बिना त्याग मुक्ति नहीं

एक बार एक महात्मा फकीर प्रभु भजन की मस्ती में कहीं चले जा रहे थे, तभी मार्ग में नदी पड़ी जिसे तैर कर पार कर पाना अत्यन्त कठिन था। संध्या का वक्त था। नाव किनारे लगी तब एक सेठ उस नाव में बैठ गया। नाविक ने कहा—ओ महात्मा जी यदि आपके पास भी किराये/उतराई के पैसे हों तो आप भी नाव में बैठ जाओ। महात्मा वहीं पर मौन खड़े रहे, तब उस सेठ ने निवेदन कर उन्हें नाव में बिठा लिया। जब नाव दूसरे किनारे पहुँची, तब सेठ बोला—महात्मा अब आप किसी को त्याग का उपदेश मत देना। यदि आज मैं धन नहीं रखता तो मैं और आप कैसे नदी पार होते? महात्मा जी बोले—भाई उपदेश तो मैं त्याग का ही दूँगा। क्योंकि हम दोनों नदी पार त्याग करने से ही हुए हैं। यदि तुम नाविक को उतराई नहीं देते तो हम दोनों कैसे पार होते? यदि मैं त्यागी नहीं होता तो तुम मेरा किराया क्यों देते? यदि नाविक उस घाट से बंधी रस्सी को, खूंटे को नहीं छोड़ता तो नाव इस किनारे कैसे आती? अतएव बिना त्याग के जब नदी भी पार नहीं हो सकती, तो भव सागर कैसे पार होगा ?

परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 शांति सागर जी महाराज (दक्षिण) का संक्षिप्त जीवन वृत्त

पूर्व नाम – राशि का नाम	-	दामोदर जैन
गृहस्थावस्था में प्रसिद्ध नाम	-	सातगौडा पाटिल
माता-पिता का नाम	-	श्रीमति सत्यवती, श्रीमान भीमगौडा पाटिल
जन्मतिथि	-	आषाढ कृष्णा षष्ठी (वि०स० 1929)
जन्मदिन व दिनांक	-	बुधवार, 25 जुलाई 1872
जन्मस्थान	-	येलगुड़ (भोजग्राम के समीप), तह० चिक्कोडी, जिला बेलगॉव (कर्नाटक)
कुल/वंश, जाति	-	जैन - क्षत्रिय, चतुर्थ जैन
लौकिक शिक्षा	-	तीसरी कक्षा पास
नाम भाई (बड़े-छोटे)	-	ज्येष्ठ भ्राता-1 आदिगौड़ा, 2. देवगौडा अनुज भ्राता-1. कुम्भगौडा
नाम बहिन	-	कृष्णाबाई
गृहस्थ जीवन की विशेषताऐं	-	शान्त स्वभाव, भद्र परिणाम, गृहस्थी में अनासक्त, विवाहोपरान्त भी बाल ब्रह्मचारी, सत्यनिष्ठ, दयालु, असाधारण शक्ति, निर्भीक
विवाह-शादी	-	9 वर्ष की आयु में 6 वर्ष की बालिका से विवाह
श्रावकोचित व्रतों का नियम	-	8 वर्ष से ही प्रारंभ कर दिया, आचार्य आदिसागर अंकलीकर से
सम्मेद शिखर जी की यात्रा	-	32 वर्ष की युवावस्था में की, तभी से घी, तेल आदि रसों का आजीवन त्याग,
ब्रह्मचर्य व्रत - कब, किनसे	-	बाल्यावस्था में ही, सिद्धप्पा स्वामी जी से,
वैराग्य का कारण	-	पूर्व भव के संस्कार,
क्षुल्लक दीक्षा तिथि	-	ज्येष्ठ शुक्ला चर्तुदशी वि०सं० 1972
क्षुल्लक दीक्षा दिन-दिनांक	-	शुक्रवार, 25 जून 1915
क्षुल्लक दीक्षा का स्थान	-	उत्तूर ग्राम,

क्षुल्लक दीक्षा के गुरु का नाम	-	देवेन्द्र कीर्ति (क्वचित ग्रंथों में सिद्ध सागर जी)
क्षुल्लक दीक्षा के समय आयु	-	42 वर्ष 11 माह
क्षुल्लक अवस्था का काल	-	3 वर्ष 6 माह 20 दिन
क्षुल्लक अवस्था में चातुर्मास	-	4 चातुर्मास
ऐलक दीक्षा की तिथि	-	पौष शुक्ल चतुर्दशी वि० सं० 1975
ऐलक दीक्षा दिन-दिनांक	-	बुधवार, 15 जनवरी 1919,
ऐलक दीक्षा का स्थान	-	गिरनार जी,
ऐलक दीक्षा के गुरु का नाम	-	स्वयं दीक्षित,
ऐलक दीक्षा के समय आयु	-	46 वर्ष 5 माह 20
ऐलक अवस्था का काल	-	1 वर्ष 1 माह 17 दिन
ऐलक अवस्था में चातुर्मास	-	2 चातुर्मास
मुनि दीक्षा तिथि	-	फाल्गुन शुक्ल त्रयोदशी वि०सं० 1976
मुनि दीक्षा दिन-दिनांक	-	मंगलवार, 2 मार्च 1920
मुनि दीक्षा के गुरु का नाम	-	देवेन्द्र कीर्ति जी महाराज
मुनि दीक्षा का स्थान	-	यरनाल (कर्नाटक)
मुनि दीक्षा के समय आयु	-	47 वर्ष 7 माह 07 दिन
मुनि अवस्था का काल	-	4 वर्ष 7 माह 06 दिन
मुनि दीक्षा का प्रसंग	-	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव
मुनि अवस्था में चातुर्मास	-	6 चातुर्मास
मुनि अवस्था में उपसर्ग	-	सर्पकृत, मकौडा द्वारा, राजाखेडा नगर में ब्राह्मण द्वारा प्राण लेने का प्रत्यन, चीटियों द्वारा,
मुनि अवस्था में विशेष साधना	-	सिंह निष्क्रीडित व्रत, चारित्र शुद्धि व्रत
मुनि अवस्था में विशेष प्रभावक कार्य	-	मिथ्यात्व का खंडन, धर्म का प्रचार-प्रसार
		अश्विन शुक्ल एकादशी वि० सं० 1981
आचार्य पद की प्राप्ति कहां	-	समडोली
आचार्य पद की प्राप्ति दिन-दिनांक	-	बुधवार, 8 अक्टूबर 1924
आचार्य दीक्षा के गुरु का नाम	-	चतुर्विध संघ द्वारा, गुरु आज्ञा से
आचार्य दीक्षा के समय आयु	-	52 वर्ष 2 माह 13 दिन
आचार्य अवस्था का काल	-	30 वर्ष 11 माह 10 दिन
आचार्य अवस्था में चातुर्मास	-	31 चतुर्मास
आचार्य अवस्था में विशेष साधना	-	जिन मंदिर में हरिजन प्रवेश के समय अन्न-जल का त्याग (लगभग 3 वर्ष तक)

मुनि अवस्था में प्राप्त विशेष उपाधियाँ	-	अतिराय योगी, आध्यात्मिक संत, सहज साधक, अभीक्षण ज्ञानोपयोगी
आचार्य अवस्था में अति विशेष कार्य-		जयधवला, धवला, महाधवला आदि का प्रकाशन एवं तीर्थ क्षेत्रों का जीर्णोद्धार
किस कार्य में विशेष रुचि	-	अनशन आदि तप, ध्यान एवं स्वाध्याय में
विशेष उपाधियाँ	-	चारित्र चूडामणि, संयम शिरोमणि, निश्चय आराधक
णमोकार मंत्र की जाप	-	लगभग 9 करोड
जीवन में कितने दिन उपवास	-	9938 दिन (331.27 माह अथवा 27.60 वर्ष) उपवास
आचार्य श्री की कुल आयु	-	83 वर्ष 1 माह 23 दिन
समाधि कहां	-	कुन्थलगिरि
समाधि मरण किस तिथि को	-	भाद्रपद शुक्ल द्वितीय वि०सं० 2012
समाधि मरण का दिन-दिनांक	-	रविवार, 18 सितम्बर 1955
समाधि की साधना कितने दिन	-	36 दिन
समाधि मरण का समय	-	प्रातः 6.50 बजे
समाधि मरण का होरा, चौघडिया, लग्न	-	रविवार, उद्वेग, कन्या
पट्टाचार्य पद किसे दिया	-	मुनि श्री वीर सागर जी को

●●●

परम पूज्य चारित्र चक्रवर्ती आचार्य श्री 108 शांतिसागर जी महाराज (दक्षिण वाले) के संघस्थ त्यागी-व्रती (शिष्य-शिष्याओं) की नामावली

मुनिगण

1. प० पू० मुनि श्री 108 वीर सागर जी
2. प० पू० मुनि श्री 108 नेमि सागर जी
3. प० पू० मुनि श्री 108 चन्द्र सागर जी
4. प० पू० मुनि श्री 108 पाय सागर जी
5. प० पू० मुनि श्री 108 कुंथु सागर जी
6. प० पू० मुनि श्री 108 सुधर्म सागर जी
7. प० पू० मुनि श्री 108 नमि सागर जी
8. प० पू० मुनि श्री 108 अनन्त कीर्ति जी
9. प० पू० मुनि श्री 108 वर्धमान सागर जी
10. प० पू० मुनि श्री 108 धर्म सागर जी
11. प० पू० मुनि श्री 108 समंत भद्र सागर जी
12. प० पू० मुनि श्री 108 नेम सागर जी (द्वितीय)
13. प० पू० मुनि श्री 108 पार्श्व कीर्ति जी
14. प० पू० मुनि श्री 108 आदि सागर जी
15. प० पू० मुनि श्री 108 चन्द्र सागर जी (द्वितीय)

आर्यिका व छुल्लिका समूह

1. आर्यिका श्री 105 अनन्तमती जी
2. आर्यिका श्री 105 चन्द्रमती जी
3. आर्यिका श्री 105 विमलमती जी
4. क्षुल्लिका/आर्यिका श्री 105 अजितमती जी

5. क्षुल्लिका/आर्यिका श्री 105 जिनमती जी
6. क्षुल्लिका/आर्यिका श्री 105 सुमति मति जी
7. क्षुल्लिका/आर्यिका श्री 105 जिनमती जी (द्वितीय)
8. क्षुल्लिका/आर्यिका श्री 105 राजमती जी
9. क्षुल्लिका/आर्यिका श्री 105 अनन्तमती जी (द्वितीय)
10. क्षुल्लिका/आर्यिका श्री 105 विद्यामती जी
11. क्षुल्लिका शांतिमती अम्मा जी
12. ब्र० गंगाबाई जी

क्षुल्लक गण

1. क्षुल्लक श्री 105 मल्लिसागर जी
2. क्षुल्लक श्री 105 विमल सागर जी
3. क्षुल्लक श्री 105 सुमति सागर जी
4. क्षुल्लक श्री 105 भद्रबाहु सागर जी
5. क्षुल्लक श्री 105 सिद्ध सागर जी

ब्रह्मचारी गण

1. ब्रह्मचारी श्री पाण्डुरंग साव भुसारी
2. ब्रह्मचारी श्री खुशालचन्द गांधी फलटन

इस प्रकार कुल मिलाकर 15 मुनि, 11 आर्यिका व छुल्लिका मताएं एवं 5 क्षुल्लक महाराज, 2. ब्रह्मचारी जी व 1 ब्रह्मचारिणी बहिनें। कुल 34 व्रती।

नोट–ये जैन मित्र विशेषांक के अनुसार लिखे हैं, यदि इनमें कहीं त्रुटि हो तो विज्ञ जन संशोधन करके ही पढ़ें।

●●●

आचार्य पायसागर महाराज

कोल्हापुर से पं० सुमेर चंद जी आचार्य श्री 108 पायसागर महाराज का दर्शन करने स्तवनिधि गए। पायसागर महाराज से अपने आचार्य महाराज के विषय में कुछ बातें बताने की प्रार्थना की।

आचार्य महाराज की विशेषता

श्री पायसागर महाराज ने कहा—"आचार्य महाराज की मुझ पर अनंत कृपा रही। उनके आत्म-प्रेम ने हमारा उद्धार कर दिया। महाराज की विशेषता थी कि वे दूसरे ज्ञानी तथा तपस्वी के योग्य सम्मान का ध्यान रखते थे। एक बार मैं महाराज के दर्शनार्थ दही गांव के निकट पहुंचा। मैंने भक्ति तथा विनयपूर्वक उनको प्रणाम किया। महाराज ने प्रतिवंदना की।" मैंने कहा—"महाराज, मैं प्रतिवंदना के योग्य नहीं हूं।"

महाराज बोले—"पायसागर चुप रहो। तुम्हें अयोग्य कौन कहता है? मैं तुम्हारे हृदय को जानता हूं।" महाराज के अपार प्रेम के कारण मेरा हृदय शल्यरहित हो गया। मेरे गुरु का मुझ पर अपार विश्वास था।"

असली प्रायश्चित

महाराज ने आज्ञा दी कि पायसागर भाषण करो। महाराज पहले भी मुझे भाषण देने का आदेश देते थे। मैंने कहा—"बहुत वर्षों से गुरुदेव का दर्शन नहीं मिला था। मैं उनके चरणों में आत्मशुद्धि के लिए आया हूं। मैं अपने को दोषी मानता हूं। मैं अज्ञानी हूं। गुरुदेव से प्रायश्चित की प्रार्थना करता हूं।"

महाराज ने कहा—"पायसागर! चुप रहो। हमें सब मालूम है। तुमको प्रायश्चित देने की जरूरत नहीं है। आज का समाज विपरीत है। तू अज्ञानी नहीं है। तुझे अयोग्य कौन कहता है। मैं तेरे को कोई प्रायश्चित नहीं देता हूं। प्रायश्चित नहीं भूलना, यही प्रायश्चित्त है।"

आचार्यश्री की चेतावनी

जब आचार्य महाराज से अंतिम विदाई होने लगी, तब महाराज ने कहा–"पायसागर! बहुत होशियारी से चलना। स्व-स्वरूप में जागृत रहना।"

उन्होंने यह भी कहा था–"दुनिया कुछ भी कहती रहे, तू तो योग-निद्रा में लीन रहना।"

जीवन-सुधार का अपूर्व उदाहरण

पायसागर जी के एक निकट-स्नेही सज्जन ने बताया कि पहले ये ही महाशय जिनधर्म की निन्दा किया करते थे। कहा करते थे–"मुनि पशुतुल्य नग्न विचरते हैं। पत्थर की मूर्ति पर दूध डालना महामूर्खता है। जैन लोग महाअज्ञानी हैं।" इनका भाव मिथ्या-तापसी बनने का था; किन्तु गोकाक में आचार्य महाराज के दर्शनमात्र ने इस जीव के जीवन में चमत्कारिक परिवर्तन करा दिया। जीवन के परिवर्तन का पायसागर महाराज सदृश उदाहरण मिलना भी दुर्लभ है।

अद्‌भुत अभिनेता

पहले पायसागर जी के कन्नडी भाषा में रसपूर्ण गीतों का अर्थ न समझते हुए भी कोल्हापुर नरेश शाहू महाराज रात-रात भर जागकर इनके गायन की स्वरलहरी से मस्त हुआ करते थे। उनका संगीत अद्‌भुत रसपूर्ण रहता था। यथार्थ में वे उस समय मोह की महिमा का प्रसार कर रहे थे। वे ही साधु बनकर जिनधर्म की महिमा के अपूर्व प्रचारक बन गए। अन्धकारमय जीवन आध्यात्मिक ज्योति से जगमगा उठा। पायसागर जी को दिगम्बर मुनिरूप में देखकर पुरानी अवस्था से तुलना करने वाला आश्चर्य के सिन्धु में डूबे बिना नहीं रहता था। पहली अवस्था में यही व्यक्ति ओवरकोट-पेंट पहने टोप, टाई अलंकृत, सिगरेट मुंह में दबाए हुए, अंग्रेजी प्रभावापन्न थे। आज दिगम्बर साधु बनकर वही मुनिराज धर्म की देशना दे रहे हैं। इतना अवश्य है कि पहले भी इनकी रुचि अध्यात्म शास्त्र की ओर थी।

महान् कलाकार

पायसागर महाराज महान् कलाकार थे। वे मुनि बन गए थे, फिर भी उनमें पूर्व कला की अभिव्यक्ति मोक्षमार्ग के अभिनेता के रूप में दृष्टिगोचर होती थी। भाषण देते समय पायसागर महाराज अपनी वाणी, हस्त, मुखादि की चेष्टाओं द्वारा

जब पदार्थ का निरूपण करते थे, उस समय श्रोतागण अत्यन्त शांतिभावपूर्वक उपदेशामृत को पीते जाते थे। वे मन्त्रमुग्ध सरीखे हो जाते थे। कहावत है—"मूल स्वभाई जाई ना-मूल स्वभाव नहीं जाता।" इस नियमानुसार पायसागर जी में कुछ विलक्षणता थी। अब उनकी समस्त प्रवृत्तियां वीतराग रस को उद्दीपनतता प्रदान करती थी। तत्त्व प्रतिपादन के अनुरूप उनकी चेप्टा भी हुआ करती थी।

अपूर्व अभिनय

मुनि आदिसागर महाराज ने बताया था कि—"पायसागर जी की गृहस्थावस्था अद्भुत थी। उनका अभिनय अपूर्व होता था। यदि कभी वे रंगमंच पर आकर इधर से उधर एक बार भी जाते थे, तो प्रेक्षकवर्ग हंसते-हंसते थक जाता था।"

महत्त्वपूर्ण पत्र

उनके पत्र अनुभवपूर्ण रहते थे। एक पत्र में लिखा था—"सुविद्वानों की कलह में दुःख की वृद्धि है। कुविद्वानों के संगठन द्वारा पाप-कलहादि की वृद्धि होकर राष्ट्र का अकल्याण होगा। वर्षाकाल में पुष्पों पर विपुल जल डालने की अपेक्षा ग्रीष्मकाल में अल्पजल का सिंचन करना विशेप महत्त्वपूर्ण है। आज के निकृप्ट काल में सद्धर्म का पालन करना बड़ी बात है। समृद्धि में दान देने का उतना महत्त्व नहीं है, जितना दारिद्रय में थोड़ा भी दान देना गौरवपूर्ण है। आज भगवान् जिनेन्द्र के पवित्र धर्म को बड़ों-बड़ों ने छोड़ दिया है। हम दरिद्री बन गए हैं। जैन थोड़े हैं। सम्यक्त्वी और थोड़े हैं, इससे हम दरिद्री हो गए हैं। ऐसी अवस्था में धर्म के वृक्ष के लिए वात्सल्यपूर्वक एक लोटा जल डालने सदृश थोड़ी भी सहायता महत्त्वपूर्ण है।"

जब पूज्य 108 श्री पायसागर महाराज अशक्त हो गए तब उन्होंने अपना आचार्य पद मुनि 108 श्री अनंतकीर्ति महाराज को प्रदान किया था।

आनंदाश्रुओं का प्रवाह

कई बार वे आत्मरस में मग्न हो भाषण देते जाते थे। नेत्रों से आनंद की अश्रुधारा वहती जाती थी। श्रोता लोग भी आनंदरस में डूब जाते थे। उनके भी नेत्रों से वह आनंदपूर्ण अश्रुधारा निकल पड़ती थी। ऐसे अलौकिक वक्ता का जीवन में कहीं भी दर्शन नहीं हुआ।

आत्मनिन्दा

पूर्व में सेवन किए गए दुर्व्यसनों के फलस्वरूप उनका शरीर रोगों का केन्द्र

बन गया था। उस सम्बन्ध में वे कहा करते थे–"मैंने जो कर्म किए हैं, उनका फल मुझे ही भोगना पड़ेगा। उसकी कोई औषधि नहीं है।"

पापक्षय के उपाय

पापक्षय के उपाय हैं–"आत्मस्वरूप का चिंतवन करना, ज्योतिर्मय जिनेन्द्र की भक्ति करना तथा अपने स्वरूप को ध्यान में रखना। सूर्योदय द्वारा जिस प्रकार अंधकार दूर होता है, इसी प्रकार जिनेन्द्र स्मरण तथा आत्मदेव के प्रकाश द्वारा मोह तथा विपत्ति का अंधकार नष्ट होता है। जागृत रहकर सदा आत्मकल्याणार्थ उद्योग करते रहना चाहिए।"

मृत्यु की पूर्वसूचना

पायसागर महाराज कहते थे–"मेरा समय अब अति समीप है। मैं कब चला जाऊंगा यह तुम लोगों को पता भी नहीं चलेगा।" हुआ भी ऐसा ही। प्रभातकाल में वे अध्यात्मप्रेमी साधुराज ध्यान करने बैठे। ध्यान में वे निमग्न थे। करीब 7. 30 बजे लोगों ने देखा, तो ज्ञात हुआ कि महान् ज्ञानी, आध्यात्मिक योगीश्वर पायसागर महाराज इस क्षेत्र से चले गये। पक्षी पिंजड़ा छोड़कर उड़ गया। वास्तव में उन्होंने लोहतुल्य जीवन को स्वर्णरूपता प्रदान कर दिव्य पद प्राप्त किया।

आचार्यश्री के विषय में उद्‌गार

आचार्य महाराज में उनकी अपार भक्ति थी। वे कहते थे–"मेरे गुरु चले गये। मेरे प्रकाशदाता चले गये। मेरी आत्मा की सुध लेने वाले गए। मेरे दोषों का शोधन करके उपगूहनपूर्वक विशुद्ध बनाने वाली वंदनीय विभूति चली गई। मेरे धर्म पिता गए। मुझे भी उनके मार्ग पर जाना है।" उनकी समाधि की स्मृति में उन्होंने गेहूं का त्याग उसी दिन से कर दिया था। उसके पश्चात् उन्होंने जंगल में ही निवास प्रारम्भ कर दिया था। वे नगर में पांच दिन से अधिक नहीं रहते थे। उनकी दृष्टि में बहुत विशुद्धता उत्पन्न हो गयी थी।

आत्मप्रभावना

वे कहते थे–"अब तक मेरी बाहरी प्रभावना खूब हो चुकी है। मैं इसे देख चुका। इसमें कोई आनन्द नहीं है। मुझे अपनी आत्मा की सच्ची प्रभावना करनी है। आत्मा की प्रभावना रत्नत्रय की ज्योति के द्वारा होती है। इस कारण मैं इस पहाड़ी पर आया हूं। अब मैं एकान्त चाहता हूं।"

आत्मपरिवार

अपने आत्म-परिवार के साथ मैं अब एकान्त में रहना चाहता हूं। शील, संयम, दया, दर्शन, ज्ञान, चारित्र, वीर्यादि मेरी आत्मा के परिवार की विभूतियां हैं। मैं उनके साथ खेल खेलना चाहता हूं। इससे मैं असली आनन्द का अमृतपान करूंगा। मैं कर्मों का बन्धन नहीं करना चाहता।

गुणों की दीवाली

"मैं आत्मगुणों की दीवाली मनाना चाहता हूं तथा कर्मों की होली करना चाहता हूं। कर्मों के ध्वंस करने का मेरा अटल और अचल निश्चय है।"

आलंद में इनका चातुर्मास नगर के भीतर न होकर बाहर हुआ था। पहले उनके आहार के उपरान्त भक्त श्रावकगण बाजे-गाजे आदि के द्वारा अपनी प्रसन्नता व्यक्त करते हुए प्रभावना करते थे। अब पायसागर महाराज ने ये सब बातें वन्द करवा दीं। आचार्य महाराज की समाधि के पश्चात् उनकी जीवनदृष्टि में विलक्षण परिवर्तन हो गया था। ऐसा दिखता था कि अब पायसागर महाराज आत्मशुद्धि के पथ पर वेग से बढ़ते जा रहे हैं। उनका मन वीतरागता के रस में निरन्तर निमग्न रहता था।

समाधि की तैयारी की दृष्टि से उन्होंने ज्वारी की अंबिल लेना शुरू कर दी थी। दूध, दही, शक्कर, नमक आदि सभी रसों का परित्याग कर दिया था। शरीर के रोगी रहने से घी मात्र नहीं छोड़ा था। यह क्रम पन्द्रह माह पर्यन्त चलता रहा। वे कहते थे—"अब मुझे अपने जीवन के एक-एक क्षण का उपयोग समाधि के लिए उपयोगी सामग्री के संचय में लगाना है।"

प्रश्न—उनसे तत्त्वचर्चा में बहुत आनन्द मिलता था। सदा जैनधर्म के अनुपम रहस्यों की चर्चा चला करती थी। एक दिन किसी ने पूछा—"महाराज! कोई व्यक्ति निर्ग्रन्थ मुद्रा को धारण करके उसके गौरव को भूलकर यदि अकार्य करता है, तो उसको आहार देना चाहिए या नहीं?"

समाधान

उन्होंने कहा, आगम का वाक्य है—"भुक्तिमात्र-प्रदाने तु का परीक्षा तपस्विनाम्", अरे! दो ग्रास भोजन देते समय साधु की क्या परीक्षा करना? उसको आहार देना चाहिए। बेचारा कर्मोदयवश प्रमत्त बनकर विपरीत प्रवृत्ति कर रहा है। उसका न

तिरस्कार और न पुरस्कार ही करे। भक्तिपूर्वक ऐसे व्यक्ति की सेवा नहीं करना चहिए।''

अपनी समाधि के बारे में वे बहुधा कहते थे—''मेरी परलोक-यात्रा इस प्रकार की समाधिपूर्वक होगी कि किसी को भी पता नहीं चल पायेगा। मैं अपने विषय में पूर्ण सावधान हूं।'' उनकी वाणी अक्षरशः सत्य हुई। **आश्विन वदी अमावस्या,** सन् 1958 में वे स्वर्गवासी हो गए।

वे आत्मजागरण तथा उपयोग शुद्धि के लिए आत्मा का प्रवोध प्रदान करने वाले मंत्रों तथा आगम के वाक्यों का सदा उच्चारण किया करते थे। अपनी अखण्ड शांति तथा आनन्द की धारा को आघात न पहुंचे, इसलिए वे समीपवर्ती शिष्य मण्डली को भी अपने पास आने का निपेध करते थे।

आत्मयोगी की अपूर्व चर्या

उनकी आत्म-निमग्नता, आत्म-विचार तथा तत्त्व-चिंतन आदि अद्‌भुत थे। चलते-चलते वे एकदम रुक जाते थे। पैर नहीं बढ़ते थे। वे ध्यान में खड़े रहते थे। कभी-कभी ऐसा होता था कि वे शौच के लिये रवाना हुए; किन्तु मार्ग में रुककर खड़े हो जाते। लोग देखते थे कि महाराज तो आत्मध्यान में निमग्न हैं। किसी निर्धन को यदि चिंतामणि रत्न मिल जाय, तो वह उस रत्न को बड़े प्रेम, आदर तथा ममता से बार-बार देखकर हर्प प्राप्त करता है।, इसी प्रकार आत्मयोगी पायसागर महाराज विश्व में अनुपम आत्मनिधि को प्राप्त कर जहां चाहे वहां; जब चाहे तब, उसका दर्शन करते थे, आनंद प्राप्त करते थे। समाधि द्वारा ब्रह्मदर्शन करने वाले योगियों के समान पायसागर महाराज की अवस्था हो रही थी। विषयों की निस्सारता का उन्होंने स्वयं आवश्यकता से अधिक अनुभव कर लिया था, इससे उनका हृदय वह विषयसुखों से पूर्ण विरक्त हो चुका था। वह उस ओर न जाकर सदा अपनी ओर ही उन्मुख रहते थे।

उनकी अवस्था देखकर रत्नाकर कविरचित भरतेश वैभव में वर्णित चक्रवर्ती भरत महाराज का चित्रण सहज ही नेत्रों के समक्ष आ जाता था। भोगी के समक्ष सदा विषयों का नृत्य होता रहता है। आत्मयोगी की अवस्था निराली होती है। वह सदा आत्मनिधि के सौन्दर्य को देखकर हर्प प्राप्त करता है।

निरन्तर आत्मचिन्तन

आत्मध्यान में वे इतने निमग्न रहते थे, कि उनको समय का भान नहीं रहता था। कभी-कभी चर्या का समय हो जाने पर भी वे ध्यान में मस्त बैठे रहते थे। उस समय कुटी की खिड़की से कहना पड़ता था कि आपकी चर्या का समय हो गया। इस अवस्थावाले पायसागर महाराज के चित्र से क्या पूर्व के व्यसनी नाटकी रामचन्द्र गोकाककर के जीवन की तुलना हो सकती है? जिस प्रकार राहु और चन्द्र में तुलना असम्भव है, इसी प्रकार उनके पूर्व जीवन तथा वर्तमान में रंचमात्र भी साम्य नहीं था। तप, स्वाध्याय तथा ध्यान के द्वारा उनका जीवन सुवर्ण के समान मोहक बन गया था।

विलक्षण योगी

उनकी विलक्षण अवस्था का वर्णन सुनकर लोगों की समझ में नहीं आयेगा; किन्तु हमने तो प्रत्यक्ष देखा है कि आहार करते-करते कभी-कभी वे चुप खड़े हो जाते थे। वे भूल जाते थे कि उनको आहार करना है। उस अवस्था में कहना पड़ता था—"महाराज! आपको आहार लेना है।" तब उनका ध्यान बदलता था।

चेतावनी

आहार के समय कभी-कभी कुछ हल्ला हो जाता था, तो आहर के उपरांत कहते थे—"तुम मेरे आत्मविचार में क्यों विघ्न डालते हो? थोड़ा-सा भोजन देकर मेरी आत्म-निमग्नता को क्यों बाधा देते हो? यदि तुमने शांति नहीं रखी, तो मुझे तुम्हारी रोटी की परवाह नहीं है। मुझे अपनी आत्मा का कल्याण करना है। याद रखो, मैं शरीर का दास नहीं हूं। शरीर मेरा नहीं है। मैं क्यों उसकी दासता करता फिरूं?"

स्वोपकारी

उन्होंने अपना आचार्यपद अनन्तकीर्ति मुनि महाराज को दे दिया था; अतः अब तो वे साधु परमेष्ठी हो गए थे। इससे उन्होंने अपने शिष्यों को कह दिया था कि—"तुम्हें स्वयं अपना कल्याण करना है। अब मैं तुम्हारे लिए अपना समय नहीं दे सकता। मैं अपनी आत्मसाधना के कार्य को नहीं छोड़ सकता।" परोपकृतिमृत्सृज्य

स्वोपकारपरो भव'' ''परोपकार की स्थिति को छोड़कर अपनी आत्मा का हित साधन कर, ऐसी आगम की आज्ञा की ओर उनका ध्यान था।''

मेरा भगवान मेरे पास है।

वे कहते थे–''इतने दिन तो परोपकार किया। उपदेश दिया। धर्म प्रभावना के कार्य किए। अब मुझे दूसरी जगह जाना है। अब अपनी तैयारी करना है। अब तुम्हारी फिकर करने के लिए मेरे पास समय नहीं है। मैं तुम्हें समझाऊं भी क्या? तुम भी स्वयं समर्थ हो। तुमको भी अपनी आत्मा से प्रकाश प्राप्त करना चाहिए। बाहरी प्रकाश की जरूरत नहीं है। कम से कम मुझे तो बाहरी वस्तु की जरूरत नहीं है। मेरे पास तो मेरी निधि है, मेरा भंडार है। मेरा जीवनसर्वस्व है। मेरा भगवान् है।''

स्वास्थ्य-वार्ता

कभी लोग पूछते थे–''महाराज! आपका शरीर-स्वास्थ्य कैसा है?''

वे कहते थे–''इस चिर रोगी शरीर की कथा क्या पूछते हो? मेरी आत्मा से स्वास्थ्य की, कुशलता की, प्रसन्नता की बात नहीं करते हो। मैं स्वस्थ हूं, मैं निरोग हूं, मैं आनन्दमग्न हूं। शरीर सरोग है या निरोग है, मैं चैतन्यमयी आत्मा इस बात की क्यों चिन्ता करता फिरूं। शरीर-शरीर है, पुद्गल है। वह अपने गुणधर्म के अनुसार परिवर्तन का खेल दिखाता है। मैं शरीर नहीं हूं तथा शरीर का सेवक नहीं हूं। मैं अपने स्वरूप का स्वामी हूं। इस सड़े शरीर की क्यों गुलामी करूं?''

आत्मध्यान-औषधि

उनकी आत्म-दृष्टि बहुत उज्ज्वल होती जारही थी। उस स्वरस में निमग्न होकर उन्होंने कहा–''मैंने औपधि मात्र का त्याग कर दिया है। अब मेरे अंतः बाह्य सभी रोगों की दवा आत्म का ध्यान है। इस दवा से आत्मा पुष्ट होती है और अनादिबद्ध पुण्य-पाप सभी प्रकार के विकारों का क्षय होकर आत्मा चिंरतन स्वास्थ्य को प्राप्त करती हुई अविनाशी नीरोगता को प्राप्त करती है।''

उनके भाई चंदप्पा जिनप्पा डोंगरे उनके पास आकर कहने लगे, अब आपका शरीर संभाषण के योग्य नहीं है। शरीर का ख्याल कर मौन लेना ठीक होगा। अब दूसरों को उपदेश देने की शक्ति आपके शरीर में शेप नहीं है।''

मेरी सम्पत्ति

पायसागर महाराज ने कहा–"तुम्हारी बात बड़ी विचित्र है। तुम सब काम को छोड़कर धन-सम्पादन के हेतु कष्ट उठाते हो। ग्राहकी चलने पर तुम अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं करते हो। मेरा भी व्यापार है। भव्य जीवों का कल्याण मेरी ग्राहकी है। उनको मोक्ष मार्ग में लगाना मेरी कमाई है, मेरी सम्पत्ति है, मेरी विभूति है। मेरी दुकान के विषय में मुझे विपरीत उपदेश क्यों देते हो? मैं अपनी मोक्षमार्ग की देशना को बंद नहीं कर सकता। आंखें बन्द होते-होते भी मैं सर्वज्ञ-वीतराग जिनेन्द्र के शासन की चर्चा नहीं छोडूंगा। यह जिनेन्द्र की वाणी का मंगलमय रस समस्त संकटों और व्याधियों का विनाश करता है। मंगलोत्तम शरणभूत जिनेन्द्र की चर्चा इस जीवन के सिवाय मेरे आगामी जीवन के लिए रसायन रूप हैं इससे मेरी आत्मा को पोषण प्राप्त होता है। मैं तुम्हारे व्यापार में बाधा नहीं डालता, तुम मेरे व्यापार में क्यों विघ्न करते हो? तुमको मेरे बीच में नहीं पड़ना चाहिए।

गुरुदेव की पावन स्मृति

आचार्य महाराज के प्रति उनकी बड़ी भक्ति थी। उनका उपकार वे सदा स्मरण करते थे। प्रायः उनके मुख से ये शब्द निकलते थे–"मैंने कितने पाप किए? कौन-सा व्यसन सेवन नहीं किया? मैं महापापी न जाने कहां जाता? मैं तो पापसागर था। रसातल में ही मेरे लिए स्थान था। मैं वहां ही समा जाता। मेरे गुरुदेव ने पायसागर बनाकर मेरा उद्धार कर दिया।" ऐसा कहते-कहते उनके नेत्रों में अश्रु आ जाते थे।

सच्चे गुरु की सच्ची भक्ति

उनके हृदय में गुरु के प्रति सच्ची भक्ति थी, इससे जैसे गुरुदेव 'ॐ सिद्धाय नमः' शब्द कहते-कहते परलोक गए, इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र के पुण्य वातावरण में आत्मचिन्तन करते हुए ये मनस्वी साधु भी स्वर्गवासी हुए। पायसागर महाराज अध्यात्म रस से पूर्ण क्षीरसागर सदृश थे, उनका जीवन समुज्जवल आलोकमय था। वे असाधारण तथा लोकोत्तर संतशिरोमणि थे।

●●●

आचार्य धर्मसागर महाराज

जब आचार्य महाराज का स्वर्गवास हुआ, तब उनके समीप बहुत समय व्यतीत करने वाले मुनिराज 108 धर्मसागर महाराज का चातुर्मास जबलपुर के निकट बरगी ग्राम में हो रहा था। 24 नवम्बर, सन् 1955 को मैं उनके पास पहुंचा। वे सामायिक में निमग्न थे। उनकी भव्य, शांत तथा तेजोमय ध्यानमुद्रा मन को अति मधुर तथा आकर्षित लगी। सच्ची सामायिक तो सम्पूर्ण परिग्रहरहित दिगम्बर गुरु के होती है। गृहस्थ के पास साधु की निराकुलता और विशुद्धता स्वप्न में भी असम्भव है।

सामायिक पूर्ण होने के उपरान्त मैंने महाराज को नमोस्तु कहा। उनका पवित्र आशीर्वाद मिला।

सामायिक का रहस्य

मैंने पूछा—"महाराज! आप सामायिक के समय क्या चिन्तवन कर रहे थे?"

उन्होंने कहा—"हम कुछ नहीं करते थे। राग और द्वेष छोड़कर चुपचाप शांत बैठे थे। इसके सिवाय सामायिक और है क्या? वास्तव में राग-द्वेष-मूलक आर्तध्यान तथा रौद्रध्यान के परित्याग को परमागम में सामायिक कहा गया है। स्व० आचार्य महाराज भी आत्मचिन्तवन के लिए वचनालाप छोड़कर शांतचित हो चुप बैठने के लिए कहते थे।"

स्वर्गवाससूचक स्वप्न

मैंने कुन्थलगिरि की सल्लेखना का सब वृत्तान्त उन्हें सुनाया। उन्होंने कहा—"आचार्य महाराज का 18 सितम्बर, सन् 1955 के प्रभात में स्वर्गवास हुआ था। उसी दिन प्रभात में हमें भी एक स्वप्न आया था। उससे हमने सोचा था, कि महाराज अब सम्भवतः स्वर्गवासी हो गये होंगे। मैंने आग्रहपूर्वक स्वप्न का हाल पूछा।" तब उन्होंने इस प्रकार कहा—"आचार्य महाराज के स्वर्गारोहण की रात्रि में अंतिम प्रहर में हमें एक अरथी (शव) दिखायी दी। वह आकाश से हमारे पास आ रही थी। उसके समीप आने पर हमने कहा 'णमो अरिहंताणं' पढ़ो। उत्तर में हमें

भी 'णमो अरिहंताणं' की ध्वनि सुनाई पड़ी। कुछ काल के पश्चात् वह अरथी अदृश्य हो गई।''

धर्मसागर महाराज ने यह भी बताया था—''स्वर्गवास के आठ दिन पूर्व स्वप्न में आचार्य महाराज दिखे थे। उनके साथ में वर्धमानसागरजी तथा पायसागर जी भी थे।''

भट्टारक जिनसेन जी के सत्य स्वप्न

मैंने कहा—''भट्टारक जिनसेन स्वामी कोल्हापुर को 7 जुलाई, 1953 को सवेरे पांच बजे ऐसा स्वप्न आया था कि आचार्य महाराज आगामी तीसरे भाव में तीर्थंकर होंगे।''

इस सम्बन्ध में धर्मसागर महाराज ने कहा—''भट्टारक जिनसेन के स्वप्न सच्चे देखे गए हैं। स्व० आचार्य महाराज ने भी उक्त भट्टारक जी के स्वप्नों की प्रामाणिकता प्रतिपादित की थी।''

अभक्ष्य सेवन

आजकल प्रायः शुद्ध आचार तथा विचार में सर्वत्र शिथिलता नजर आती है। एक जैन प्रोफेसर ने कहा था—''लोकोपकारी व्यक्ति यदि अमेरिका के उत्तर भाग में चला जाय, जहां का प्रदेश हिम से आच्छादित हो तथा जहां बर्फ का सदा सद्भाव पाये जाने से वनस्पति नहीं मिल सकती है, वहां उस मनुष्य को मांस खाकर अपना निर्वाह करने में जैन सिद्धान्त में बाधा नहीं आती?

मैंने यह चर्चा धर्मसागर महाराज के समक्ष चलाई, तो उन्होंने सूत्र रूप में यह मार्मिक उत्तर दिया था—''अभक्ष्य खाकर जीने की अपेक्षा मरना अच्छा है।''

हमारे पिताश्री को संदेश

धर्मसागर महाराज से पिताजी के स्वास्थ्य की चर्चा आई। वे उनकी अत्यन्त वृद्ध देहस्थिति को दो वर्ष पूर्व सिवनी में हमारे यहां पधारकर स्वयं देख चुके थे, अतएव उन्होंने पिताश्री सिंघई कुंवरसेनजी के लिए यह यह महत्त्वपूर्ण तथा कल्याणकारी संदेश दिया था—''उन्होंने कहा कि प्राण जाते पर्यन्त 'अरहंत' शब्द नहीं छोड़ना। पूरा णमोकार कहते नहीं बने, तो कोई बात नहीं। अरहंत नाम निरन्तर जपना ऐसे महाराज ने कहा है।'' गुरु का आशीर्वाद सफल हुआ। 24 मार्च, 1960 को पिताजी

की अपूर्व तथा उच्च समाधि हो गई हमारे अनुज अभिनंदन कुमार दिवाकर (एडवोकेट) से भक्तामर, सहस्त्रनाम पाठ सुनते हुए शांतभावपूर्वक उनका स्वर्गारोहण हुआ।

आकर्षण

108 धर्मसागर मुनि महाराज ने आचार्यश्री का संस्मरण सुनाते हुए कहा था–"मैं उस समय छोटा था। मैंने महाराज के 'यरनाल' में दर्शन किए थे। वे ऐलक थे। यरनाल में उनकी मुनिदीक्षा हुई थी। बाद में महाराज का कोन्नूर में चातुर्मास हुआ था।

वह स्थान हमारे गांव पाच्छापुर से दस मील पर था। रविवार को हमारे स्कूल की छुट्टी रहती थी, उस दिन हम दस मील दौड़ते हुए महाराज के पास कोन्नूर जाया करते थे। उनके दर्शन के उपरान्त शाम को लौटकर घर वापिस आते थे। महाराज के जीवन का आकर्षण इतना था कि उस समय बीस मील का आना-जाना कष्टप्रद नहीं लगता था।"

चारित्र पर उपदेश

"वहां आचार्य महाराज कन्नड़ी भाषा में चारित्र पर उपदेश देते थे। शास्त्र स्वाध्याय खूब करते थे। शास्त्रानुसार उन्होंने अपने जीवन में बहुत परिवर्तन किया था। शुद्ध चारित्रधारी निर्ग्रंथ साधु होने के कारण उनका प्रभाव वेग से वर्धमान हो रहा था।"

महाराज के जीवन पर प्रकाश

"उस समय नेमण्णा (मुनि नेमिसागर महाराज) गृहस्थ थे। वे शास्त्र पढ़ते थे और आचार्य महाराज उसे स्पष्ट रूप से समझाते थे। उस समय महाराज अष्टमी, चतुर्दशी को मौन व्रत धारण किया करते थे। उस मौन की अवस्था में उनकी जांघ पर एक सर्प चढ़ा था। महाराज उस समय स्थिर थे।"

धर्मसागर महाराज के विचार

"हमारे मन में प्रारम्भ से ही ब्रह्मचारी रहने के भाव थे। इस कारण हम शांतिसागर महाराज के समीप बहुत बार जाया करते थे।"

"पहले महाराज ने मुझे शादी होने पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत दिया था पश्चात् सन् 1929 में शिखरजी पहुंचकर उन्होंने पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत जीवन भर को दिया। उन्होंने मुझे क्षुल्लक दीक्षा दी। दस वर्ष के पश्चात् मैं ऐलक बना। दो वर्ष ऐलक रहने

के पश्चात् महाराज ने मुझे निर्ग्रंथ दीक्षा दी। मेरी दीक्षा के सर्व संस्कार महाराज ने ही अपने हाथ से किए थे।"

मधुर वाणी

उन्होंने यह भी बताया—"दिल्ली में आचार्यश्री का चातुर्मास हुआ था। उस समय से महाराज के समीप 18 वर्ष रहने का सौभाग्य मिला था। उनकी धर्म में प्रगाढ़ निष्ठा थी। धर्म विरूद्ध बात को वे सहन नहीं करते थे। वे शिष्यों को कठोर शब्द कभी भी नहीं कहते थे। मधुर वाणी से वे समझाया करते थे या मौन रहते थे।"

श्रवणबेलगोला की यात्रा

सन् 1924 में आचार्य महाराज गोकाक से श्रवणबेलगोला गए थे। वे श्रवणबेलगोला में 15 दिन ठहरे थे। वहां के मठ के स्वामी भट्टारकजी के यहां आहार की विधि लगती थी; किन्तु आचार्य महाराज वहां आहार नहीं लेते थे। महाराज कहते थे—"मठ का अन्न ठीक नहीं है। वहां का धन प्रायश्चित, दण्ड आदि द्वारा प्राप्त होता है। निर्माल्य का धन नहीं लेना चाहिए।" पंडित (उपाध्याय) के यहां भी महाराज आहार को नहीं जाते थे। वे चन्द्रगिरि पर्वत पर एक प्राचीन मन्दिर में रहते थे। उसके पास ही भद्रबाहु श्रुतकेवली की गुफा है।"

महाराज का विशेष प्रभाव

जब मैंने धर्मसागर महाराज से पूछा कि—"आपके अनुभव में महाराज के जीवन की कोई सातिशय प्रभाव को बताने वाली घटना आई होगी?"

तब वे कहने लगे—"संघ में एक स्त्री रहती थी। उसका चार वर्ष का बच्चा पानी में डूब गया। वह स्त्री बच्चे को खोजने लगी। लोगों ने खोजकर बच्चे का पता चलाया। उस बच्चे का बचना असम्भव था। महाराज के प्रभाव से बालक अच्छा हो गया। मैंने देखा कि महाराज के संघ के लोगों को कोई कष्ट नहीं होता था।"

गाड़ी पलटने पर बच्चे का रक्षण

उन्होंने एक दूसरी घटना इस प्रकार सुनाई—"हुम्मच पद्मावती क्षेत्र के समीप एक गाड़ी उलट पड़ी। एक वर्ष का बालक गिर पड़ा। उसके पास में कुल्हाड़ी पड़ी थी। वह बालक बाल-बाल बच गया। उस समय चंद्रसागरजी ऐलक थे। वीरसागर जी और नेमिसागर जी निर्ग्रंथ थे।

चन्द्रसागरजी का कथन

उस यात्रा की एक घटना धर्मसागर महाराज ने इस प्रकार सुनाई–"एक विधवा स्त्री को पान खाते देखकर चंद्रसागर जी ने कहा–"विधवा का तांबूल भक्षण शीलव्रत के विरूद्ध है। आचार्य महाराज धन्य पुरुष हैं। इनके पास नियम लेकर तुम अपने को धन्य करो।" इसे सुनते ही उस स्त्री ने आजीवन तांबूलभक्षण का त्याग किया था।

गोरल की दुर्घटना

धर्मसागर महाराज जब ऐलक थे, तब उनका नाम यशोधर महाराज था। उस वर्ष गोरल में महाराज के साथ उनका चातुर्मास व्यतीत हुआ था। उस समय की घटना का विवरण धर्मसागर महाराज ने इस प्रकार सुनाया था।

मूर्च्छा

"गोरल में हमने शास्त्र पढ़ा। पश्चात् उठकर हम ग्रंथ की नकल करने लगे। श्लोक पूर्ण करने के शेप तीन अक्षर बचे थे कि हमें मूर्च्छा आ गई। गरदन लटक पड़ी। ऐसा लगा कि अब हमारे प्राण जाने की तैयारी कर रहे हैं। कुछ समय बाद वमन हो गया। वमन के बाद हमने मौन ले लिया था। पश्चात् आचार्य महाराज आए। उन्होंने देखा और कहा–"हमें नहीं मालूम था कि तुम्हारी ऐसी हालत हो गई।" उस प्रसंग पर महाराज ने कहा था–"तुम्हारा मरण लिखते-लिखते होगा और हमारा मरण चलते-चलते होगा।"

धर्मसागर महाराज का धैर्य

1957 में चातुर्मास के पश्चात् धर्मसागर महाराज कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को (वीर संवत् 2483 में) सिवनी से प्रस्थान कर मुक्तागिरि गए। वहां से कुंथलगिरि जाते समय देवलगांवराजा नामक बस्ती के आगे जंगल में मध्याह्न के समय धर्मसागर महाराज सामायिक में बैठ गए। इमली के वृक्ष की छाया के नीचे ये मुनिराज ध्यान कर रहे थे। इनको पता नहीं था कि उनके सिर से थोड़ी ऊंचाई पर वृक्ष की डाली पर दो सर्प इधर-उधर फिरते हुए क्रीड़ा कर रहे थे। एक ग्रामीण पथिक की दृष्टि उस दृश्य पर पड़ी। उसने साथ के श्रावकों से कहा कि महाराज के सिर पर ऊपर डाल पर सर्प युगल है। लोग चिंतामें पड़ गए। कुछ काल व्यतीत होने पर महाराज की सामायिक पूर्ण हुई।"

लोगों ने कहा–"महाराज, आपकी कुटी के ऊपर समीप में दो सर्प फिर रहे हैं। यहां से दूसरी जगह बैठ जाइये।" महाराज ने लोगों का कहना नहीं सुना और दो घंटे वहां बैठे रहे। 1957 की भादों सुदी चौथ को नांद्रे जाने के पूर्व धर्मसागर महाराज के पास जब मैं लार्सुना ग्राम में गया और मैंने सर्प की उक्त चर्चा चलाई, तो वे बोले–"बात तो ठीक सुनी ऐसा ही हुआ था।"

आत्मबली

मैंने पूछा महाराज–"सिर पर यमराज नाचते रहे और आप वहां ही रहे आए। इसका क्या कारण है?" महाराज ने कहा–"इसका क्या भय करना? वे हमारे शरीर पर तो नहीं थे और यदि शरीर पर भी आ जाते, तो हमारी आत्मा का क्या करते?" मैंने सोचा आखिर, ये भी तो महामना शांतिसागर महाराज सदृश श्रेष्ठ तपस्वी के शिष्य हैं।

संकल्पपूर्वक त्याग

महाराज ने कहा–"बुद्धिपूर्वक त्याग करने से फल मिलता है। मंदिर जाते हो, वापिस घर आने तक सब प्रकार का आहार छोड़ दिया तथा कदाचित् मरण हो गया, तो त्याग में मरण होने से सद्गति मिलेगी। रात्रि भर आहार का त्याग हो और सांप के काटने से स्थिरतापूर्वक मरे, तो समाधि होगी? अरे! शरीर तो नाशवान् है। इस पर मोह कर तुम इसका लालन-पालन कर रहे हो। यह तुम्हारे साथ जाने वाला कहां है। इस नाशवान शरीर के पीछे क्यों लग रहे हो?" गुणभद्र स्वामी ने कहा है–"इस शरीर में आसक्ति करने वाले का उद्धार नहीं होगा। त्याग बुद्धि रखो।"

तोते का त्याग

एक मिथ्या साधु था। उसने एक बुद्धिमान तोता पाला था। तोते को पिंजरे में रखकर साधु ने राम-राम, विट्ठल-विट्ठल सिखलाया था। वहां एक जैन ब्रह्मचारी आया। उस साधु ने सोचा कि यह ब्रह्मचारी विद्वान् है, इसलिए उसने कुछ उपदेश देने की प्रार्थना की।" ब्रह्मचारीजी ने कहा–"त्याग के द्वारा बंधन से छूट जाओगे।" तोते के कान में ये शब्द पहुंचें। उसने विचारकर एक घण्टे के लिए आहार-पानी छोड़ दिया। वह मुर्दे के समान हो गया। साधु ने तोते को मृत सदृश समझा; इसलिये पिंजरे का द्वार खोल उसे वृक्ष के नीचे छोड़ दिया। तोता चुपचाप पड़ा रहा। एक

घंटा पूरा होने पर वह तोता उड़ कर झाड़ी पर चढ़ गया। वह बंधन से छूट गया। एक घंटे के त्याग के द्वारा पराधीनता दूर हो गई। उसने साधु से कहा–"तुम असली त्याग को पकड़ लोगे तो तुम्हारा बंधन दूर हो जावेगा। बंधन से छूटकर सच्चा आनन्द पाने के लिए त्याग भाव को अपनाना चाहिए।"

धर्मसागर महाराज की वाणी में माधुर्य था। वे आगम प्रमाण साधु थे।

●●●

आचरण से युक्त ज्ञान ही श्रेष्ठ है

एक बार एक विद्वान पंडित जी नाव के द्वारा नदी पार कर रहे थे, उन्होंने मार्ग में ही नाविक से पूछा–क्यों भाई नाविक! तुम कुछ संस्कृत भाषा पढ़े-लिखे भी हो या अनपढ़ ही हो?

नाविक बोला–जी साहब! मैं तो अनपढ़ हूँ। तब शास्त्री पंडित जी बोले–तब तो तेरा चौथाई जीवन बेकार है।

पुनः पूछा–क्या तू हिन्दी भी नहीं जानता? नाविक बोला–जी साहब नहीं, तब वह शास्त्री पंडित जी बोले तब तो तेरा आधा जीवन बेकार है। कुछ देर बार नदी में तूफान आने लगा। तब नाविक ने पंडित जी से पूछा–साहब आप तैरना जानते हैं या नहीं। पंडित जी बोले–अध्ययन तो किया है, किन्तु कभी तैरा नहीं। नाविक ने कहा–तब तो तुम्हारा पूरा जीवन ही बेकार है। इतने में तूफान से नाव उलट गई–नाविक तो तैरकर पार हो गया, किन्तु पंडित जी डूब कर मर गये।

ज्ञान वही सार्थक है जिसे जीवन में अंगीकार कर लिया हो, अन्यथा अहंकार का पोषक ज्ञान पतन का ही हेतु है।

❄ ❄ ❄

ज्ञानादित्यो हृदि यस्य, नित्यम् उद्योत कारकः।
तस्य निर्मलता याति, पञ्चेन्द्रिय दिगङ्गना।।

अर्थ–जिसके हृदय में ज्ञान रूपी सूर्य विद्यमान है, नित्य ही प्रकाशित है उसके हृदय को निर्मलता की प्राप्ति होती है, पंचेन्द्रिय रूपी दिगङ्गनाऐं भी वश में रहती हैं।

मुनि नमिसागर

जैन धर्म की प्रभावनार्थ किये गये जापान, हांग-कांग, सिंगापुर आदि के लम्बे प्रवास से लौटकर आत्मनिर्मलता के हेतु मैं ता० 16 अक्टूबर, 1956 को कलकत्ता से चलकर संध्या को पारसनास (ईसरी) आया। ता० 18 को शिखरजी की वंदना की। अपूर्व शांति मिली। वह चतुर्दशी का पुण्य दिवस था। अन्तःकरण को बहुत आल्हाद मिला। मैंने उस दिन उपवास किया मुझे रंचमात्र भी कष्ट नहीं मालूम पड़ा। स्मरण आया स्व० गुरुदेव आचार्य शान्तिसागर महाराज का पुनीत वाक्य—"निर्वाण स्थल में उपवास अदि की कठिनता प्रतीत नहीं होती। इसी से मैं समाधि के लिए निर्वाणस्थान में आया हूं।" ईसरी में समाधिमरण का संकल्प कर अपने रत्नत्रय की रक्षा में मैंने उद्यत 108 दिगम्बर महातपस्वी मुनिराज नमि सागर जी महाराजका दर्शन किया था। ता० 17 अक्टूबर को उन साधुराज से कुछ चर्चा हुई थी। अल्पकाल के बाद उनका स्वर्गवास हो गया था, फिर भी धर्मप्रेमियों के लिये उनका वर्णन हितकारी होगा, ऐसा विश्वास है।

प्रश्न—"महाराज! आपका शरीर अस्थिपंजरमात्र रह गया है। आपने सल्लेखना की तैयारी की है। कुछ मानसिक अशांति या आकुलता तो नहीं है?"

शारीरिक पीड़ा

महाराज ने कहा—"मैं आचार्य शांतिसागर जी महाराज का शिष्य हूं। उनके ही समान समाधि का उद्योग कर रहा हूं। मेरे पास पूर्ण शांति है। शरीर की पीड़ा के बारे में क्या पूछते हो? शरीर की पीड़ा शरीर के पास है। मेरे पास नहीं, मेरा आनन्द मेरे पास है। मुझे कोई भय नहीं। मैं सुखी हूं।"

प्रश्न—"महाराज! इस सल्लेखना व्रत के कारण आपका आनन्द पहले आत्मीक आनन्द से कुछ न्यून हुआ है या नहीं?"

महाराज—"इस कारण मेरा आनन्द बहुत बढ़ रहा है। मोक्ष-लक्ष्मी की प्राप्ति का मार्ग मिला है। मुक्तिरमणी की उपलब्धि आगे होगी, इस कल्पना से महान् आनन्द आ रहा है।"

प्रश्न–"महाराज! निद्रा आदि का क्या हाल है?"

महाराज–"नींद तो प्रायः चली गई है; फिर भी कोई कष्ट नहीं है। मैं तो आनन्द में हूं। आप देख ही रहे हो। भगतजी (ब्र० प्यारेलालजी) जब मुझसे बहुधा पूछा करते हैं. आप सावधान तो हैं, तो मैं तुरन्त कहता हूं। 'हां।"

स्वप्न में गुरुदर्शन

पूज्य नमिसागरजी महाराज ने कहा था–"स्व० आचार्य शांतिसागर जी महाराज ने स्वप्न में दर्शन दिया था और कहा था, धर्म में स्थिर रहना।" उन्होंने यह भी कहा था–"इधर देहली तरफ अब मत रहना। यहां से जाओ, तुम्हारे दिन नजदीक आ गये हैं। अतः सावधानी रखो।"

मेरे पुनः प्रश्न करने पर उन साधुराज ने कहा था–"आचार्य महाराज चार बार स्वप्न में आ चुके हैं। उनकी समाधि होने पर मैंने चौवीस भगवान् से प्रार्थना की थी–'प्रभो, मुझे भी ऐसी समाधि का लाभ हो। आज वही अवसर आ गया है। मैं आचार्य महाराज का शिष्य हूं। कभी भी अपने रत्नत्रय धर्म से विचलित नहीं होऊंगा।"

प्रश्न–"महाराज! आप इस संस्तर पर रहकर दिन-रात क्या करते हैं?"

उत्तर–"हम कर्मों का निर्दयतापूर्वक नाश कर रहे हैं।"

प्रश्न–"उन कर्मों पर आपकी दयादृष्टि क्यों नहीं होती?"

महाराज ने कहा–"जिन कर्मों ने हमारी सिद्ध पर्याय को लूट लिया था, उन पर दया कैसी? हम एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय पर्यन्त प्राणियों की रक्षार्थ प्रयत्नशील रहते हैं; किन्तु विभाव और विकार के कारण कर्मों के नाशार्थ निर्मम हो उद्योग करते हैं। हम आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान से अपनी आत्मा की रक्षा कर रहे हैं।"

मेरे लिए विदेश जाने की आज्ञा

प्रश्न–"महाराज! मेरे लिए क्या आज्ञा है?"

महाराज बोले–"तुमने जापान जाकर जिन धर्म की प्रभावना की। यह बहुत अच्छा किया। तुम योरोप, अमेरिका आदि देशों में जाकर जैन धर्म का प्रचार करो। धर्म-प्रचार के लिए जाने से डरो मत। अपनी श्रद्धा को निर्मल रखो। चारित्र में दोष आवे, तो प्रायश्चित्त द्वारा शुद्ध करो। हमारा हृदय कहता है कि अब जैन धर्म का उद्योत होगा। इसके लिए धन, तन तथा मन को लगाकर काम करना चाहिये। धर्म-प्रचार के लिये धर्म-श्रद्धालु सदाचार सम्पन्न तथा निस्पृह व्यक्ति चाहिये। तुम

खूब धर्म-प्रचार करो। यही हमारा तुमको आशीर्वाद है।" (यह कहकर उन्होंने बड़ी स्नेहमयी भावना से मेरे मस्तक पर अपनी करुणामयी पिच्छिका रख दी।)

जैनों का कर्तव्य

प्रश्न–"आज के जैन भाइयों के लिये आपको क्या कहना है?"

उत्तर–"जैनियों को अपनी धार्मिक क्रियाओं का रक्षण करना चाहिए। मांस, मदिरा, मधु को त्याग कर रात्रि का भोजन त्यागना चाहिये। धनवान हो या उच्च अधिकारी हो, प्रत्येक जैनी को छना पानी पीना चाहिये व रात्रि को भोजन नहीं करना चाहिये। शास्त्र में लिखा है, रात्रि-भोजन त्यागने से आधा जीवन उपवासपूर्वक सहज ही व्यतीत होता है।"

प्रश्न–"आजकल लोग स्वयं को भगवान् समझ साधन सम्पन्न होते हुए भी जिनेन्द्र-दर्शन नहीं करते। इससे कोई हानि तो नहीं है?"

महाराज ने कहा–"ऐसा करना अच्छा नहीं है। जो स्वयं को भगवान् सोचते हैं, वे यहां संसार में क्यों रहते हैं। अपने स्थान पर क्यों नहीं जाते। उन्होंने यह भी कहा–"जो स्वयं धर्म से पतित होकर तथा उसे दूर फेंककर दूसरे के कल्याण की बात सोचते हैं वे भूल पर हैं। स्वयं धर्म पर आरूढ़ होकर ही जिनधर्म की प्रभावना हो सकती है।" महाराज के ये शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं–"जैनधर्मी अपने धर्म से डिग रहे हैं। कहने से वे नहीं सुनते। जब अन्य धर्म वाले जैनधर्म से प्रेम करेंगे, भक्ति करेंगे, तब इन जैनों में भी शरम से अपने धर्म की जागृति होगी।

गुरु को प्रणाम की प्रार्थना

मैंने महाराज से कहा था–"आप तो स्वर्गयात्रा करने वाले हैं। कदाचित् आचार्य शांतिसागर महाराज का दर्शन हो, तो हमारा प्रणाम कह दीजिए। इस जैनधर्म को गौरवान्वित करने का वहां ध्यान रखिए।"

ता० 19 के प्रभात में उन क्षपकराज का पुनः दर्शन किया। उन्होंने फिर से देश-विदेश में जैनधर्म की प्रभावना करने का आदेश देते हुए आशीर्वाद दिया। मैं पावापुरी के लिए रवाना हुआ। पश्चात् ज्ञात हुआ कि 22 अक्टूबर को साम्य-भाव सहित नमिसागर महाराज शरीर त्याग कर स्वर्ग की ओर गये। उनका स्वर्गवास हो गया।

●●●

मुनिराज आदिसागर

शेडवाल के (श्री बालगोंडा, देवगोंडा पाटील) परमपूज्य मुनि आदिसागर महाराज का सिवनी में 27 फरवरी, 1957 को शिखरजी जाते समय आगमन हुआ था। उन्होंने आचार्य श्री शांतिसागर महाराज के विषय में मेरी प्रार्थना पर निम्नलिखित बातें बताईं :–

उन्होंने कहा–"चिकोड़ी तालुका बेलगाम जिला में महाराज का लगभग 10 वर्ष पर्यन्त विहार हुआ। उतने समय तक मैं चिकोड़ी की अदालत में सरकारी कर्मचारी था। अतः महाराज के दर्शन का बहुधा सौभाग्य मिला करता था। महाराज बहुत शास्त्र स्वाध्याय करते थे। शास्त्र की गूढ़ शंकाओं को सरलता से समझाते थे और सुन्दर समाधान करते थे।"

लोकहितार्थ सूचना

आचार्य महाराज ने एक स्मरण योग्य बात कही थी–"खुली सभा में ऐसी चर्चा नहीं चलानी चाहिये, जिससे जनता की दिशा भूल होना सम्भव हो।"

दूध निर्दोश है

एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के विद्वान ने महाराज से पूछा था–"आप चमड़े के पात्र का पानी नहीं लेते? चमड़े के बर्तन का घी नहीं लेते, तब दूध को क्यों लेते हैं? उसमें भी तो मांस का दूपण है।"

महाराज ने कहा था–"आप लोग अनेक नदियों के जल को अत्यन्त पवित्र मानते हैं; किन्तु यह तो सोचिये कि वह जल कहां तक शुद्ध है? जिसमें जलचर जीव मल-मूत्र त्यागते हैं और जिसमें उनकी मृत्यु भी हो जाती है। अनेक दोपों के होते हुए भी यदि जल शुद्ध है, तो दूध क्यों नहीं? एक बात और है, दूध की थैली गाय के शरीर से अलग होती है। जब गाय घास खाती है, तब पहिले उसका रस भाग बनता है। इसके बाद खून बनता है, इसलिये दूध में कोई दोप नहीं है।"

फोटो खिंचवाना

उन्होंने बताया–"एक बार मैं चिकोड़ी (बेलगांव) में था। आचार्य महाराज उस समय मुनि अवस्था में नसलापुर में विराजमान थे। मैंने चिकोड़ी के अनेक गृहस्थों के साथ नसलापुर जाकर महाराज से प्रार्थना की कि वे हमें फोटो खिंचवाने की मंजूरी प्रदान करें, जिससे हम परोक्ष में आपके दर्शन से लाभ ले सकें। हमारी प्रार्थना स्वीकार हुई।

फोटोग्राफर महाराज के पास आया। उसने महाराज से कहा–"महाराज! अच्छी फोटो के लिए, यह जगह ठीक नहीं है। दूसरा स्थान उचित है। वहां चलिए।" इसके साथ ही इस प्रकार खड़े रहिए आदि विविध प्रकार के सुझाव उपस्थित किए गए। महाराज अनुज्ञा देकर वचनबद्ध थे। उन्होंने फोटोग्राफर के संकेतों के अनुसार कार्य किया। फोटो तो खिंच गई; किन्तु इसके बाद एक विचित्र बात हुई।"

मन को दण्ड

"उस समय महाराज दूध, चावल तथा पानी के सिवाय कोई भी वस्तु आहार रूप में नहीं लेते थे। फोटो खींचने की स्वीकृति देने वाली मनोवृत्ति की शिक्षा देने के हेतु महाराज ने एक सप्ताह के लिए दूध भी छोड़ दिया। बिना अन्य किसी पदार्थ के वे केवल चावल और पानीमात्र लेने लगे।" महाराज ने बताया–"हमारे मन ने फोटो खिंचवाने की स्वीकृति दे दी। इसमें हमें अनेक प्रकार की पराधीनता का अनुभव हुआ। फोटोग्राफर के आदेशानुसार हमें कार्य करना पड़ा; क्योंकि हम वचनबद्ध हो चुके थे। हमने दूध का त्यागकर अपने मन को शिक्षा दी, जिससे वह पुनः ऐसी भूल करने को उत्साहित न हो।" इस प्रकरण से महाराज की लोकोत्तर मनस्विता पर प्रकाश पड़ता है।

रसना-इन्द्रिय की जय

नसलापुर चातुर्मास में यह चर्चा चली कि–"महाराज! आप दूध, चावल तथा जलमात्र क्यों लेते हैं? क्या अन्य पदार्थ ग्रहण करने योग्य नहीं हैं?" महाराज ने कहा–"तुम आहार में जो वस्तु देते हो, वह हम लेते हैं। तुम अन्य पदार्थ नहीं देते; अतः हमारे न लेने की बात ही नहीं उत्पन्न होती है।"

दूसरे दिन महाराज चर्या को निकले। दाल, रोटी, शाक आदि सामग्री उनको

अर्पण की जाने लगी, तब महाराज ने अंजुलिबंद कर ली। आहार के पश्चात् महाराज से निवेदन किया गया–"स्वामिन् आज भी आपने पूर्ववत् आहार लिया। रोटी आदि नहीं ली। इसका क्या कारण है?" महाराज ने पूछा–"तुमने आटा कब पीसा था, कैसे पीसा था?" इन प्रश्नों के उत्तर के 'रूप' में यह बताया गया कि रात को आटा पीसा था आदि। तब महाराज ने कहा–"ऐसा आहार मुनि को नहीं लेना चाहिए।"

इसके बाद तीसरे दिन फिर पूर्ववत् ही महाराज ने आहार लिया। आहार के पश्चात् महाराज ने भोजन की अनेक त्रुटियां बतायीं। भक्ष्य-अभक्ष्य के विषय में पूर्ण-निर्णय होने में पंद्रह दिन का समय व्यतीत हो गया। इसके बाद महाराज ने अन्य शुद्ध भोज्य वस्तुओं को लेना प्रारम्भ किया। केवल दूध, चावल, जल लेते-लेते लगभग आठ-दस वर्ष को समय व्यतीत हो गया था।

मिट्टी के बर्तन पर नारियल का नियम

आचार्य महाराज ने कोन्नूर में वृत्ति परिसंख्यान तप प्रारम्भ किया था। उनकी प्रतिज्ञा बड़ी विलक्षण; किन्तु अत्यन्त विवेकपूर्ण थी। सात दिन पर्यन्त प्रतिज्ञा के अनुसार योग न मिलने से महाराज के छह उपवास हो गये। समाज के व्यक्ति सतत चिंतित रहते थे, जिस प्रकार आदिनाथ भगवान् को आहार न मिलने पर उस समय का भक्त समाज चिन्तातुर रहता था। सातवें दिन लाभान्तराय का विशेष क्षयोपशम होने से एक गरीब गृहस्थ भीमप्पा के यहां गुरुदेव को अनुकूलता प्राप्त हो गई।

महाराज का नियम था कि यदि मिट्टी के बर्तन पर नारियल रखकर कोई पड़गाहेगा, तो मैं आहार लूंगा। गरीब भीमप्पा की दरिद्रता वरदान बन गई। उस बेचारे ने निर्धनतावश मिट्टी का कलश लेकर पड़गाहा और उसने महाराज को आहार देने का उज्ज्वल सुयोग प्राप्त किया।

प्रतिभा द्वारा प्रभावना

एक बार आचार्य महाराज हुबली पहुंचे। वहां एक अन्य सम्प्रदाय के अनेक साधु विद्यमान थे। उनके संघनायक सिद्धारूढ़ स्वामी लिंगायत साधु महान् विद्वान् थे। आचार्यश्री की सर्वत्र श्रेष्ठ साधु के रूप में कीर्ति का प्रसार हो रहा था, इसलिए

वे पालकी में आरूढ़ होकर अपने शिष्य समुदाय के साथ आचार्य महाराज के निकट आकर बैठ गए। अपने सम्प्रदाय के विशेष अहंकारवश उन्होंने जैन गुरु को प्रणाम करना अपनी श्रद्धा के प्रतिकूल समझा था। आचार्य महाराज की इस विषय में उपेक्षा-दृष्टि रहती थी कारण, प्रणाम करने या न करने से न कोई हानि होती थी और न लाभ ही होता था।

उस समय नेमिसागरजी शास्त्र पढ़ रहे थे। सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का प्रकरण चल रहा था। कुछ समय तक लिंगायत स्वामी ने शास्त्र सुना और प्रश्न किया—"बार-बार सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का शब्द सुनने में आ रहा है। सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का क्या भाव है?"

महा मिथ्यात्व के रोग में ग्रस्त व्यक्ति को कैसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का भेद समझाया जावे? उत्तर देना सामान्य बात न थी। उत्तर तो कोई भी दे सकता था; किन्तु उत्तर ऐसा आवश्यक था, जो हृदय को समाधानप्रद हो तथा जिससे कटुता उत्पन्न न हो। आचार्य महाराज की प्रतिभा ने एक सुन्दर समाधान सोचा। उन्होंने ये अनमोल शब्द कहे—"भीतर देखना सम्यक्त्व है। बाहर देखना मिथ्यात्व है।" महाराज ने कन्नड़ी भाषा में ये वाक्य कहे थे। इसे सुनते ही उसका हृदय-कमल खिल गया। उस ज्ञानवान साधु को अवर्णनीय आनन्द आया।

उन्होंने आचार्य महाराज को साष्टांग प्रणाम किया और कहा, ऐसे सद्गुरु का मुझे अपने जीवन में प्रथम बार दर्शन हुआ। ऐसे महापुरुष को ही अपना गुरु बनाना चाहिए। उनके सभी शिष्यों ने महाराज को प्रणाम किया। हजारों व्यक्तियों के मुख से जैनगुरु के गौरव और स्तुति के वाक्य निकलते थे। उस समय बड़ी प्रभावना हुई थी। लाखों लोग कह रहे थे, सच्चा साधुपना तो शान्तिसागर महाराज में है।

महाराज ने सन् 1925 में श्रवणबेलगोला की यात्रा की थी। उस यात्रा से लौटते समय आचार्य संघ दावणगिरि में ठहरा था। बहुत-से अन्य धर्मी गुरुभक्त महाराज के पास रस, दूध, मलाई आदि भेंट लेकर पहुंचे। रात्रि का समय था। चन्द्रसागर जी ने लोगों से कहा कि महाराज रात्रि को कुछ नहीं लेते हैं। वे लोग बोले—"महाराज गुरु हैं। जो भक्तों की इच्छा पूर्ण नहीं करते, वे गुरु कैसे?" महाराज तो मौन थे। वे भद्रपरिणामी भक्त रात्रि को ढोलक आदि बजाकर भजन तथा गुरु का गुणवान करते रहे।

उपयोगी उपदेश

दिन निकलने पर महाराज का विहार हो गया। वे लोग महाराज के पीछे-पीछे गए। उन्होंने प्रार्थना की कि–"स्वामीजी! कम-से-कम हम लोगों को कुछ उपदेश तो दीजिए।" उनका अपार प्रेम था उनकी योग्यता आदि को दृष्टि में रखकर महाराज ने उन लोगों के द्वारा गाये गए भजन के कुछ उनके परिचित शब्दों का उल्लेख कर कहा–"इन शब्दों के अर्थ का मननपूर्वक आचरण करो और अधिक-से-अधिक जीवदया का पालन करो, तुम्हारा कल्याण होगा।" इस प्रिय वाणी को सुनकर वे बड़े प्रसन्न हुए। महाराज में यह विशेषता थी कि वे समय, परिस्थिति, पात्र आदि का विचार कर समयोचित तथा हितकारी बात कहते थे।

सद्भावनापूर्ण भेंट

उन भक्तों का मन महाराज के चरणों में इस प्रकार आसक्त हो गया कि जिस प्रकार मधुकर कमल के प्रति अपार अनुराग धारण करता है। महाराज लगभग दस मील पहुंचे होंगे कि वे भक्त एक गाड़ी में घृत, धान्य आदि सामग्री लेकर संघ के सत्कार की सद्भावना से प्रेरित हो वहां पहुचे। महाराज ने संघपति से कहा–"इन लोगों की प्रेमपूर्ण भेंट तुम्हें स्वीकार करना चाहिए।" उनकी स्नेहपूर्ण भेंट प्रेमभाव से स्वीकार की गई। सुमधुर भोजन द्वारा उन गुरुभक्तों को परितृप्त भी किया गया। महाराज का व्यवहार अन्य सम्प्रदाय वालों के साथ भी इतना मधुर होता था कि इनके चरणों के प्रेमी बन जाते थे।

शेडवाल में सर्प का उपसर्ग

आचार्य महाराज आत्मबली, उग्रतपस्वी तथा निर्भय हृदय वाले थे। सर्प के द्वारा अनेक बार उन पर उपसर्ग हुआ। सन् 1929 की बात है–"महाराज शेड़वाल अनाथाश्रम की समीपवर्ती गुफा में ध्यानार्थ गए। रात्रि भर वहां रहकर ध्यान के पश्चात् गुफा से बाहर आते समय उन्होंने सबेरे श्रावक से कहा–"होशियारी से भीतर जाना।" उस श्रावक ने भीतर जाकर देखा, तो उसे कुछ नहीं दिखा। मैं भीतर गया, तो प्रयत्नपूर्वक खोज की। महाराज के शब्द अन्यथा नहीं हो सकते, इस विश्वास से मैंने विशेष ध्यान देकर इधर-उधर खोज की, तो एक फोटो के पीछे लगभग दो हाथ का सर्प छिपा था। मैंने उसे पकड़कर खेत में छोड़ा था।

कोगनोली में सर्पराज का उपसर्ग

महाराज कोगनोली की गुफा में ध्यान करने बैठे थे। एक सर्प लगभग आठ हाथ लम्बा तथा बड़ा मोटा महाराज के पेट तथा अधोभाग में लिपटा हुआ बैठा था। महाराज गंभीर मुद्रा में अवस्थित थे। सैकड़ों लोगों ने आकर देखा। घंटा भर के बाद वह सर्प स्वयमेव चला गया। महाराज का ध्यान पूर्ण हुआ।

उन्होंने उपस्थित लोगों को यह प्रतिज्ञा दिलाई थी कि इस सर्प की बात को जाहिर नहीं करेंगे। लोगों ने अपनी प्रतिज्ञा की इतनी मात्र पूर्ति की थी कि उन्होंने यह वर्णन नहीं छपवाया, किन्तु वे इसकी चर्चा को नहीं रोक सके। गुरु की ऐसी अपूर्व तपस्या को देख भला कौन अपना मुख बंद रख सकता था?" कोगनोली में सर्प के भीषण उपद्रव की अवस्था में अवचिलित तथा प्रसन्नतापूर्ण ध्यान-मुद्रा से महाराज की महिमा का प्रसार दक्षिण में बड़े वेग से हुआ। लोगों की भक्ति भी खूब वृद्धि को प्राप्त हुई।

सन् 1918 में मेरा एक मित्र मुनि शान्तिसागरजी के गुण गाता था, तब मैं निरादर भाव से कहा करता था–"उनमें क्या धरा है? वे सामान्य मनुष्य सरीखे होंगे।"

प्रथम दर्शन

एक दिन रविवार को चिकोड़ी में कचहरी बन्द रहने से मैंने नौ मील पर स्थित नसलापुर जाकर महाराज को देखा। उनके दर्शन होते ही मेरे मन में उनके चरणों के प्रति अपार प्रीति उत्पन्न हुई। उस समय मुझे अवर्णनीय आनन्द प्राप्त हुआ। आज भी उस घटना का प्रभाव पड़ता था। जैसा चुम्बक का लोह पर पड़ता है। मेरा जीवन बदल गया। मैं आज उनके प्रभाववश ही मुनि बना।

शिष्य को गुरुत्व प्राप्ति

आचार्य महाराज ने देवप्पास्वामी (मुनि देवेन्द्र कीर्ति महाराज) से क्षुल्लक दीक्षा ली थी। देवप्पास्वामी सन् 1925 में श्रवणबेलगोला में थे, उस समय महाराज भी वहां पहुंचे।

देवप्पास्वामी ने महाराज का शास्त्रोक्त जीवन देखा था और जब उससे उन्होंने

अपनी शिथिलाचारपूर्ण प्रवृत्ति की तुलना की, तब उनको ज्ञात हुआ कि मेरी प्रवृत्ति मुनिपदवी के अनुकूल नहीं है। देवप्पास्वामी दस गज लम्बा वस्त्र ओढ़ते थे। उद्दिष्ट स्थान पर जाकर आहार लेते थे। आहार के समय वे दिगम्बर होते थे। भोजन के समय जोर से घंटा बजता था, ताकि भोजन में अन्तराय रूप वाक्य कर्णेन्द्रियगोचर ही न हो। ऐसी अनेक बातें थीं। देवप्पास्वामी सच्चे मुमुक्षु थे। विषयों से विरक्त थे। उनकी सम्यक् प्रणाली का पता न था। आचार्य महाराज से कहा–"मुझे छेदोपस्थापना दीजिए।" आगम के अनुसार मेरा कल्याण कीजिए। आपके शास्त्रोक्त जीवन से मेरी आत्मा प्रभावित हो उठी है।

आचार्य महाराज ने उनको यथायोग्य प्रायश्चितपूर्वक पुनः दीक्षा दी। उनके गुरु ने भी गुरुत्व का परित्याग कर शिष्य पदवी स्वीकार की। सत्पुरुष आत्महित को सर्वोपरि मानते हैं। आचार्य महाराज को अपने गुरु के सम्बन्ध में यह चर्चा करना अच्छा नहीं लगता था।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

"देवप्पास्वामी का ब्रह्मचर्य बड़ा उज्ज्वल था। वे सिद्धिसंपन्न सत्पुरुष थे। मैंने गोकाक में उनकी गौरवपूर्ण कथा सुनी तथा उसकी प्रामाणिकता का निश्चय किया। वे गोकाक से कोन्नूर जा रहे थे। वहां की भीषण पहाड़ी पर ही सूर्य अस्त हो गया। उनके साथ एक उपाध्याय था। उसे कग्गुड़ी पण्डित कहते थे। स्वामी ने एक चक्कर खींचकर उपाध्याय को उसके भीतर सूर्योदय पर्यन्त रहने को कहा और वे भी उस घेरे के भीतर ध्यान के लिए बैठ गए।

शेर की गर्जना

रात्रि होने पर एक भयानक शेर वहां आया। उसने खूब गर्जना की, उपद्रव किए; किन्तु वह व्याघ्र घेरे के भीतर न घुस सका। भय से उपाध्याय का बुरा हाल था, फिर भी वह घेरे से बाहर नहीं गया। दिन निकलने के बाद स्वामी कोन्नूर पहुचे, तब उपाध्याय ने सब जगह उपरोक्त कथा सुनाई। इससे देवप्पा स्वामी का महत्व सूचित होता है। शुद्ध मुनिपद धारण कर उनकी आत्मा बहुत विकसित हुई।

भीमशा की भीषण भक्ति

आचार्यश्री कोगनोली में विराजमान थे। चातुर्मास का समय सन्निकट था। प्रत्येक समीपवर्ती ग्रामवासी चाहता था कि गुरुदेव की चार माह पर्यन्त सेवा का सौभाग्य हमारे ग्राम को प्राप्त हो। कई स्थानों के लोग महाराज के पास एकत्रित्र हो गए थे। निर्णय होना शेष था। नसलापुर के अनेक लोग आए थे। उनमें शक्ति और भक्ति गुणसंपन्न भीमशा मकदूम नामक व्यक्ति ने ऐसा काम किया, जिसकी कोई स्वप्न में भी शायद कल्पना नहीं करेगा।

महाराज गांव के वाहर गुफा में ध्यान करने गए। प्रभात में चार बजे महाराज सामायिक को बैठे ही थे कि भीमशा अपने साथियों के साथ गुफा में गया। भीमशा के मस्तक में एक विचित्र विचार आया कि इस समय महाराज ध्यान में हैं। ये कुछ भी नहीं बोलेंगे। भीमशा ने महाराज को आसन सहित उठाकर अपने वलवान् कंधे पर विराजमान कर शीघ्र ही नसलापुर की ओर प्रस्थान किया। सूर्योदय होते समय वे लगभग आठ मील दूर यमगरणी ग्राम पर्यन्त पहुंच गए। सामायिक पूर्ण हुई। आकाश में सूर्य को देखकर महाराज का मौन भी पूर्ण हुआ। उन्होंने भीमशा से कहा—"अरे बाबा! अब तो हमें नीचे उतरने दो।" पश्चात् भीमशा का साहस तथा भक्ति देख महाराज हंसने लगे।

कुछ काल के पश्चात् कोगनोली की गुफा में महाराज को न देख अन्य ग्रामों के गृहस्थ महाराज को खोजते हुए उस स्थान पर आए। उन्होंने महाराज से अपने-अपने ग्राम में चातुर्मास के हेतु विनय की। उस समय महाराज ने हंसते हुए भीमशा की ओर इशारा करते हुए कहा—"यमराज बैठा है। इससे कौन बच सकता है?" इसके पश्चात् नसलापुर में ही महाराज का चातुर्मास हुआ। ऐसी भक्ति लोगों की महाराज के प्रति रहती थी। लोगों का महाराज के चरणों में इतना प्रेम रहता था कि कि वे अपने कुटुम्ब, परिवार का भी ममत्व छोड़कर महाराज की सेवार्थ अपने प्रिय प्राणों के परित्यागार्थ तैयार रहते थे।

महाराज के समक्ष जब भीम सरीखा शक्तिशाली भीमशा आता था, तब महाराज के मुखमण्डल पर स्मित की मधुर रेखा आ जाती थी। संभवतः महाराज को भीमशा की अद्भुत भक्ति की स्मृति आ जाती होगी।

विचारपूर्वक व्रतदान

"आचार्य महाराज बहुत दूरदर्शी थे। उनसे जब कोई व्रत मांगता था, तो वे व्रत लेने वाले की सम्पूर्ण (वर्तमान तथा आगामी) परिस्थिति पर दृष्टिपात कर लेते थे। मैंने कोन्नूर में महाराज से पंचाणुव्रत लिए। परिग्रह का परिमाण करते समय मैंने कहा–"मैं पांच हजार रुपयों को रखने का परिणाम करता हूं।"

महाराज ने कहा–"इतने में तुम्हारा निर्वाह नहीं होगा। उससे आकुलता उत्पन्न होगी।" अतएव महाराज के कथनानुसार मैंने परिग्रह परिमाण लिया था।

पात्र के योग्य प्रायश्चित

"एक बार मारवाड़ के नावा ग्राम में दिगम्बर जैन महासभा के अधिवेशन में मैं, बालगोंडा और दरीगोंडा के साथ पहुंचा था। मैं तथा मेरे साथी, जिन्हें मैं काका कहता था, जैन के हाथ का ही जल पीते थे। महासभा के एक पदाधिकारी सज्जन ने हमसे कहा कि यहां शोध के चौक में जैनी ही पानी लाता है तथा भोजन बनाता है। हमने उस चौके में दो-तीन दिन भोजन किए। अन्त में पता चला कि वहां कहार जाति का आदमी पानी लाता था। इससे मेरे मन में बहुत खेद उत्पन्न हुआ। वापिस लौटकर हमने आड़ते नाम के स्थान पर आचार्य महाराज के दर्शन किए। यह कोल्हापुर के समीप है।

हमने आचार्य महाराज के समक्ष अपना सर्व वृत्तान्त सुनाया कि उत्तर प्रान्त में जाने पर किस प्रकार हमारे नियम में दूषण आ गया। आचार्य महाराज ने सम्पूर्ण कथन ध्यान से सुना। इसके पश्चात् महाराज ने प्रायश्चित ग्रन्थ उठाकर लगभग आधा घंटे के अनन्तर हमें महामंत्र की विशेष जापरूप प्रायश्चित दिया। मैंने कहा–"इतना प्रायश्चित देने में आपको अधिक समय क्यों लगा?"

महाराजने कहा–"शास्त्र में उपवास का प्रायश्चित अनेक स्थल पर बताया गया था। हम जानते हैं कि तुमको सरकारी काम के कारण बाहर सदा दौरा करना पड़ता है, इससे तुमको उपवास रूप प्रायश्चित क्लेशदायी हो जायगा। यह विचार कर हम तुम्हारे योग्य प्रायश्चित को देखते थे। इसमें हमें समय लग गया।" वे गंभीर विचारक थे।

●●●

आचार्य अनन्तकीर्ति महाराज

अपूर्व आध्यात्मिक आकर्षण

मुनि अनन्तकीर्ति महाराज बेलगांव वालों ने बताया—"आचार्य महाराज का व्यक्तित्व असाधारण आध्यात्मिक आकर्षण का केन्द्र था। जिस प्रकार चुम्बक लौह पदार्थ को अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार अच्छे भवितव्य वाले भव्य जीव उनके सान्निध्य को पाकर उनसे बहुत कुछ प्राप्त करते थे। उनके उपदेश के बिना ही बहुतों की आत्माएं पाप-पंक से निकलकर संयम की उज्ज्वल भूमि में अवस्थित हुई हैं।"

अपना अनुभव

उन्होंने स्वयं अपना अनुभव इस प्रकार बतलाया—"आचार्य शान्तिसागर महाराज कोन्नूर ग्राम में अपना वर्षाकाल व्यतीत कर रहे थे। मै उनके पास जाया करता था। उनका दर्शन कर मन में यही इच्छा होती थी कि मैं भी दिगम्बर मुद्रा धारण कर उनके साथ में रहूं। बार-बार न जाने क्यों ऐसी इच्छा हुआ करती थी कि घर में, कुटुम्ब में, व्यापार में तथा परिवार में कुछ नहीं रखा है। उन साधुराज सदृश बनने में ही शान्ति का लाभ होगा।"

व्यक्तित्व का प्रभाव

"उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर मैंने ब्रह्मचर्य प्रतिमा ग्रहण की। एक वर्ष के पश्चात् क्षुल्लक पद ग्रहण किया। इसके बाद मैं निर्ग्रंथ बना। मैंने क्षुल्लक पद पंचकल्याणक के अवसर पर लिया था; किन्तु आचार्य शान्तिसागर जी के पास आकर मैंने नवीन रूप से पुनः दीक्षा ली थी।"

पुनः दीक्षा लेने का हेतु

मैंने अनन्तकीर्ति महाराज से पूछा—"जब आपने दीक्षा ले ली थी, तब पुनः दीक्षा लेने का क्या कारण था?"

उन्होंने कहा–"दीक्षा गुरु पाहिजे–दीक्षा-गुरु होना आवश्यक है।" अनेक वाक्यों को सुनकर सचमुच में यह बात मन को उचित लगी। कई मुमुक्षुजन सद्गुरु का सान्निध्य पाने का प्रयत्न न करके स्वयं दीक्षा ले लेते हैं। उनकी कृति में अनेक बातें कभी-कभी ऐसी आ जाती हैं, जो उनके जीवन में नहीं होती, यदि उन्होंने किसी को दीक्षागुरु बनाया होता।

सद्गुरु नाविक हैं

जिस तरह महान् सरोवर या सिन्धु में चतुर नाविक का आश्रय प्राणों का रक्षण करता है, उसी प्रकार भवसिंधु में सद्गुरु का अवलम्बन ग्रहण करना हितकारी होता है। गुरु का अनमोल अनुभव सत्पथ पर लगाता है।

अहंकार का त्याग

जब आत्मा का कल्याण करना है, सारे कुटुम्ब-परिवार को छोड़ना है, तब स्वात्मसिद्धि के प्रेमी साधु को छोटे-से अहंकार रूपी शत्रु को छोड़ देना चाहिए। यह थोड़ा-सा अहंकार महान् साधु को लघु बनाते हुए उनकी साधुता को कभी-कभी मोह की भंवर में डुबा दिया करता है। इस प्रकाश में अनन्तकीर्ति महाराज की बात सुन्दर लगती है कि उन्हें गुरु नहीं मिला था; किन्तु तत्पश्चात् सद्गुरु मिल गये, तो उनसे दुबारा दीक्षा ली। यह कार्य उज्ज्वल है, प्रशस्त है। अभिनन्दनीय एवं अभिवन्दनीय है। अन्य मुमुक्षु-वर्ग को इस सम्बन्ध में अवश्य दृष्टि देने की प्रार्थना है।

कुटुम्बी बाधक नहीं बने

अनन्तकीर्ति महाराज से मैंने पूछा–"महाराज, आप तो बड़े सम्पन्न परिवार के व्यक्ति रहे, दीक्षा लेते समय क्या कुटुम्बी लोग बाधक नहीं बने?"

उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा–"हमारे मन से प्रेम हटने के बाद कुटुब्बियों में रोकने की भला क्या ताकत थी?" सचमुच में जब अन्तःकरण में यथार्थ वैराग्य की ज्योति जलती है, तब उस भाग्यशाली को विषयों की दासता त्यागकर आत्मस्वातन्त्र्य के पथ में प्रवृत्ति करने वाले को कौन रोक सकता है? उदीयमान प्रभातकालीन प्रभाकर को क्षितिज पर देखकर ऐसा कौन है, जो उसकी वृद्धि को रोककर उसे पुनः उषा की गोद में सुला सके? हां, असली वैराग्य चाहिए। श्मशान-वैराग्य अल्प काल तक

टिकता है। जैसे सट्टे का व्यापारी क्षण में धनवान बन जाता है। श्रीमन्तों में महाश्रीमन्त बनता है और थोड़े समय के बाद ही वही दरिद्रों की पंक्ति में भी बैठ जाता है, अतः विवेकी मन के मजबूत होने पर ही अपना कदम उठाया करते हैं।

क्या मुनिपद कठिन है?

मैंने पूछा–"आपने मुनिपद जैसी कठिन चीज को बहुत जल्दी कैसे ग्रहण कर लिया?"

अनन्तकीर्ति महाराज ने कहा–"मुनि का जीवन कठिन नहीं है। वास्तव में आत्मकल्याण का पथ सुलभ है। अज्ञान के कारण जीव उसे कठिन मानता है और जो वास्तव में कठिन है, उसे सुलभ समझता है। घर के काम की अपेक्षा मुनि का जीवन सुलभ होता है।" वे कहने लगे–"पण्डितजी! कपड़े ओढ़कर आपको जितनी ठंड लगती है, उतनी ठंड हमें दिगम्बरत्व में लगती है।"

मैंने पूछा–"महाराज! यह कैसी बात है?"

उत्तर–"अन्तरंग में 'धृति-कम्बल' धैर्यरूपी कम्बल ओढ़कर हम रहते हैं। उस कम्बल के धारण करने पर आनन्द से शीत ऋतु व्यतीत हो जाती है।" उन्होंने समझाया–"आप लोग व्यापार करते हैं। भयंकर गर्मी में बैठकर व्यापार में निमग्न रहते हैं, तब क्या गर्मी लगती है? उस समय धनोपार्जन के आनन्द के कारण जिस प्रकार गर्मी का कष्ट कष्टरूप नहीं लगता, इसी प्रकार परीषहादि भी संयमी पुरुषों को भी बाधक नहीं होते।"

अद्भुत योगी

उन्होंने उस समय शान्तिसागर महाराज के सत्संग का उल्लेख करते हुए बताया था–"आचार्य महाराज अद्भुत योगी की तरह ध्यान में निमग्न रहते थे, जब चाहे तब वे अपनी आंखों को बन्द कर लेते थे और अपने-आप में मस्त रहा करते थे।" वास्तव में जैसे फिल्म (चित्रपट) देखते समय बाहरी प्रकाश बुझा देना उपयोगी रहता है। ठीक इसी प्रकार अर्न्तज्योति के दर्शन के लिए चक्षुरूपी बाहरी खिड़कियों को बन्द करना आवश्यक है। इतना ही क्यों, आत्मा के असली आनन्द, अवर्णनीय

रस का निर्झर तो तब बहता है और उसमें आकण्ठ निमग्न होने का अपूर्व सुखद अनुभव तब प्राप्त होता है, जब आत्मा व्यग्रता के कारण रूप स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन इन्द्रियों से सम्पर्क दूर कर उपद्रवी मन को कसकर बांध लेता है। जो खाते-पीते, मौज उड़ाते, खेलते-कूदते, विषय-सेवन करते हैं, मान-अपमान की गठरी पास रखते हैं रागद्वेप का कचरा साथ में रखते हुए आत्मानन्द की उज्ज्वल बातें बनाते हैं; उनकी बातें ऐसी लगती हैं, जैसी किसी दरिद्र के मुख से श्रीमन्तों की भी तिरस्कृत करने वाली धनवैभव की चर्चा निकलती है। इस प्रकाश में उन विषयासक्तों का जीवन करुणापूर्ण लगता है जो अंधकार पुंज अपने जीवन को सर्वाधिक तेजः पुंज मानते हैं। वे मोही साधुओं की दया के पात्र हैं। मोहकर्म के कारण वे तेजोमय सत्य का दर्शन नहीं कर पाते हैं।

पतित का उद्धारकार्य

आचार्य अनंतकीर्ति महाराज ने कहा था—"एक बार आचार्य शांतिसागर महाराज कुंभोज पहुंचे। एक व्यक्ति धर्ममार्ग से डिग चुका था। उसके सुधार हेतु महाराज के भाव उत्पन्न हुए। महाराज ने उस व्यक्ति को अपने पास बुलाने का विचार किया।"

उस पर चंद्रसागरजी ने कहा—"महाराज! वह दुप्ट है। बुलाने पर वह नहीं आयेगा, तो आपका अपमान होगा।"

आचार्य महाराज ने कहा—"हमारे पास मान नहीं है, तो अपमान कैसे होगा? मान होने पर अपमान का भय उचित था। इसके पश्चात् वह व्यक्ति महाराज के पास आया। उनके तपोमय व्यक्तित्व ने उस पापी हृदय पर गहरा प्रभाव डाला। महाराज के कथन को सुनकर उसने अपने जीवन में समुचित सुधार कर लिया।"

आचार्य पायसागर महाराज ने अनन्तकीर्ति महाराज को आचार्य पद प्रदान कर समाधि ली थी। अनन्तकीर्ति महाराज की शान्ति के साथ समाधि हो गई।

●●●

आचार्य देशभूषण महाराज

108 आचार्यरत्न देशभूषण महाराज का देहली में 1957 में चातुर्मास था। उसके पूर्ण होने के पश्चात् हम देहली में राष्ट्रपति बाबू राजेन्द्र प्रसाद जी के पास जबलपुर के बृहत् जैन पंचकल्याणक महोत्सव में उनके पधारने की स्वीकृति प्राप्त करने हेतु गए थे। दिसम्बर माह में राष्ट्रपतिजी से भेंट हुई थी। लगभग 50 मिनट तक उन भद्रस्वभाव वाले महान सत्पुरुष से चर्चा हुई थी। पश्चात् मैं आचार्य देशभूषण महाराज के पास आया। मैंने प्रार्थना की कि मुझे आचार्य शांतिसागर महाराज के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण संस्मरण सुनाइये।

उपगूहन तथा स्थितिकरण

देशभूषण महाराज ने कहा था—"स्व० आचार्य महाराज में उपगूहन तथा स्थितिकरण अपूर्व थे। किसी साधु के दोषों की चर्चा चलने पर लोगों के समक्ष वे चुप रहते थे, शांत रहते थे। एकान्त स्थान में वे सदोष साधु को खूब दंड देते थे। लोगों के द्वारा की गई चुगली पर वे विश्वास न करके स्वयं पैनी दृष्टि डालकर दूसरे की मानसिक अवस्था का अनुमान कर लिया करते थे। उनके आत्म-तेज के कारण अपराधी स्वयं भी अपराध को स्वीकार करता था।"

प्रेमपूर्ण मार्मिक शिक्षा

देशभूषण महाराज ने कहा—"मैं नवदीक्षित और छोटी अवस्था का मुनि था। नांद्रे में मैं आचार्य महाराज के पास गया। मैंने उनकी वंदना की। उन्होंने दयाकर मेरी वंदना को स्वीकार कर प्रतिवंदना की।" उन्होंने मुझे पर अपार प्रेमभाव व्यक्त करते हुए कहा—"तुम हमारे भाई हो। सदा आगम के अनुकूल चलना। किसी के बहकावे में मत आना। तुम्हारी उमर छोटी है। सम्हाल कर काम करना। तुम क्षत्रियवंश के हो। घराने को धब्बा लगे, ऐसा काम कभी मत करना। तुम भ्रम उत्पन्न करने वाले बड़े-बड़े भूतों से बचना। धर्म की खूब प्रभावना करना।"

संयम की चिन्ता

पढ़ाई की बात न पूछकर पहले हमारे संयम का हाल पूछा—"तुमने कितना प्रतिक्रमण किया? दैवसिक, रात्रिक, मासिक, वार्षिक आदि कितने किए हैं?" किन्हीं विषयों में गड़बड़ी ज्ञात कर वे पूछने लगे—"खाने के कारण तो गड़बड़ी नहीं हुई है।" हमने कहा—"महाराज! आपके चरणों में हम आत्मनिर्मलता के हेतु आए हैं। आपकी आज्ञा को शिरोधार्य करते हैं।"

एकान्त में उपदेश

महाराज ने लोगों से कहा—"हमारा भाई आया है, उसका उपदेश होगा।" मेरा उपदेश सुनकर वे संतुष्ट हुए। एकान्त में समझाने लगे, तुम चतुर्थ हो और यह पंचम जाति का है, इस प्रकार जाति के साथ भेद-भाव मत करना। लोग झगड़ा मोल लेते हैं। तुम शत्रु पर गुस्सा मत करना। शत्रु भी यदि त्यागी हो तो उसे साथ में रखना, अकेले भ्रमण मत करना। तुम्हारा भी कल्याण होगा।" स्वच्छन्द विहार का वे विरोध करते थे। आज कोई-कोई आगम की आज्ञा को न मानकर स्वच्छन्द विचरण करते हैं। यह अयोग्य कार्य है।

आचार्य देशभूषण महाराज ने बताया था—"प्रतिवर्ष आचार्य महाराज को पत्र भेजकर उनसे प्रायश्चित्त कर हम प्रायश्चित ग्रहण करते रहे हैं।"

स्वाध्याय के लिए मार्गदर्शन

उन्होंने कहा था—"प्रायश्चित शास्त्र पढ़ना। प्रायश्चित शास्त्र दूसरों को पढ़कर नहीं सुनाना। प्रथमानुयोग का भी मनन करना। एकान्त में अपनी शांति के हेतु समयसार पढ़ना। सार्वजनिक रूप में समयसार नहीं पढ़ना।" आज समयसार का जनसाधारण में प्रचार बढ़ने के साथ असंयम का महारोग बढ़ रहा है। नकली सम्यक्त्व को रत्न माना जा रहा है।

प्रपितामह

चर्चा के प्रसंग में देशभूषण महाराज ने बताया—"मुनि जयकीर्ति महाराज उनके दीक्षा गुरु थे। जयकीर्ति महाराज के गुरु पायसागर महाराज थे। पायसागरजी के गुरु आचार्य शांतिसागर महाराज थे। इस दृष्टि से आचार्य महाराज देशभूषण महाराज के प्रपितामह हुए।" उस पर मैंने कहा—"तब तो संयम की दृष्टि से आप महाराज

शांतिसागरजी के प्रपौत्र ठहरे।" देशभूषण महाराज ने कहा–"बिल्कुल ठीक बात है।" क्षण भर में वैराग्य की लहर आने पर वे कहने लगे–"पंडित जी! किसका पता, किसका पुत्र, कौन किसका है? जगत् में सभी जीव अलग-अलग है।"

आचार्यश्री का श्रेष्ठ विवेक

इसके पश्चात् देशभूषण महाराज ने कहा–"आचार्य शांतिसागर महाराज ने अपने जीवन की एक विशेष घटना हमें बताई थी। एक ग्राम में एक गरीब श्रावक था। उसकी आहार देने की तीव्र इच्छा थी; किन्तु बहुत अधिक दरिद्र होने से उसका साहस आहार देने का नहीं होता था। एक दिन वह गरीब प्रतिग्रह के लिए खड़ा हो गया। उसके यहां आचार्यश्री की विधि का योग मिल गया। उसके घर में बार ज्वार की रोटी थी। उन्होंने सोचा कि यदि इसकी चारों रोटी हम ग्रहण कर लेते हैं, तो यह गरीब क्या खायगा? इससे उन्होंने थोड़ी-सी भाकरी, थोड़ा दाल, चावल मात्र लिया था। उस समय गरीब श्रावक का हृदय बड़ा प्रसन्न हो रहा था। उसके भक्ति से परिपूर्ण आहार को लेकर वे आए और सामायिक को बैठे। उस समय सामायिक में बहुत मन लगा। बहुत देर तक सामायिक होती रही। शुद्ध तथा पवित्र मन से दिए गए आहार का परिणामों पर बहुत प्रभाव पड़ता है। वे लोकोत्तर थे।"

●●●

"धम्मे धम्म फलम्मिय हरिसो भावो होई संव्वेओ।"

आ० ब्रह्मदेव सूरि विरचित–**वृहद द्रव्य संग्रह टीका**

अर्थ–धर्म में (धर्मात्मा, संयमी जनों में) धर्म के फलों में परम हर्ष भाव/परमानंद को होना ही संवेग भावना है।

❄ ❄ ❄

ध्यानेन शोभते योगी, संयमेन तपोधनः।
सत्येन वचसा राजा, गृही दानेन शोभते।।

अर्थ–ध्यान से योगी, संयम से तपोधन, सत्य वचन से राजा एवं गृहस्थ दान से शोभा को प्राप्त होता है।

आचार्य विमलसागर महाराज

डाकू का कल्याण

19 जनवरी, 1959 को 108 मुनि विमलसागर महाराज शिखरजी जाते हुए फलटण चातुर्मास के उपरान्त सिवनी पधारे थे। उन्होंने बताया था कि आचार्य शांतिसागर महाराज आगरा के समीप पहुंचे। वहां जैन मंदिर में उनके पास एक महान् डाकू रामसिंह पद्मावती पुरवाल वेप बदलकर गया। महाराज के पवित्र जीवन ने उस डाकू के हृदय में परिवर्तन कर दिया। उसने महाराज से अपनी कथा कहकर क्षमा-याचना की तथा उपदेश मांगा। महाराज ने उससे कहा–"तुम णमोकार मंत्र को जपो।" णमोकार मंत्र जपते ही उस डाकू के तत्काल प्राणपखेरू उड़ गए। जीवन कितना क्षणिक है। क्षण भर में ही उसका कल्याण हो गया।

आचार्य विमलसागरजी ने कहा था–"स्व० आचार्य महाराज आगरा की तरफ पधारे थे। उनकी कृपा से हमें यज्ञोपवीत प्राप्त हुआ था, जो रत्नत्रय का लिंग है। उस रत्नत्रय के चिन्ह के निमित्त से आज मुझे निर्ग्रंथ पदवी प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। उनके सम्पर्क से परिणामों में अपूर्व उत्साह उत्पन्न होता था। आत्मकल्याण की ओर भाव बढ़ते थे।"

●●●

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंच परमेष्ठी।
ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।।
अर्थ–अर्हन्त, सिद्धं, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पंच परमेष्ठी भी वस्तुतः आत्मा में लीन रहते हैं, अतः निज आत्मा ही मुझे शरण है।

आचार्यरत्न बाहुबली महाराज

हमारी उम्र होगी 7-8 साल की। रुड़की, जि० कोल्हापुर में एक विशाल मुनिसंघ आया था। आचार्यजी शन्तिसागरजी तथा अन्य 6-7 मुनियों का केशलोंच श्री 1008 आदिनाथ तीर्थंकर जिनमंदिर के सामने मंच पर हो रहा था। याद आता है वह दृश्य, जिस वक्त हमने आचार्यश्री के पवित्र चरण छुए थे।

सन् 1955 की बात। चैत्रमास में आचार्यश्री का शुभागमन बाहुबली आश्रम में हुआ था। वार्ता सर्वत्र फैल गई थी। हम भी पैदल ही दर्शनार्थ गए थे। चारों ओर से जनता की अपूर्व भीड़ दर्शनार्थ उमड़ी हुई थी।

धर्मशाला में आहार हो रहा था। कुछ लोग चौरंग उठाए हुए महाराजजी की प्रतीक्षा में थे। हर एक सोच रहा था—महाराजजी यहां पधारेंगे। अपनी अमृत मधुर वाणी से सबको कृतार्थ करेंगे। इतने में ही महाराजजी दरवाजे से सीधे बाहर आए और चल पड़े कुंभोज की ओर। चैत्र की दुपहरी, कड़कती धूप, महाराजजी आगे बढ़ रहे हैं और पागल की तरह जनता उनके पीछे-पीछे दौड़ पड़ी है, दर्शन के सौभाग्य प्राप्त करने। हम भी उसी भीड़ में थे। पैरां के तलुवे जल रहे थे। किन्तु मन में थी अपार श्रद्धा। आधे रास्ते में जाकर महाराजजी के चरण छूने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

●●●

समत्तं सण्णाणं, सच्चरित्तं य सत्तवो चेव।
चउरो चिट्ठादि आदे, तम्हा आदा हू मे सरणं ॥93॥ वा. आ.

अर्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र और सम्यक तप ये चारों ही (निज) आत्मा में अवस्थित हैं! अतः मुझे निज आत्मा ही शरण है।

क्षुल्लक सिद्धिसागर

वैयावृत्य का निषेध

महाराज के अन्तिम क्षण में समीप रहने वाले क्षुल्लक सिद्धिसागर (भरमप्पा) ने सिवनी में आकर शिखरजी जाते समय हमें बताया था कि–"अन्त में तीन दिन चौबीसों घंटे महाराज एक ही करवट रहे थे। पहिले महाराज ने हमें आज्ञा कर दी थी कि तुम हमारे हाथ-पांव मत दबाना; क्योंकि हमने सेवा कराना छोड़ दिया है। तुम जबर्दस्ती सेवा करते थे, अब नहीं करना।"

शास्त्रदान की प्रेरणा

आचार्य महाराज संयम के सिवाय सम्यक्ज्ञान के भी महान् प्रेमी थे। उन्होंने कहा था–"ज्ञान बिना समाज में धर्म नहीं टिकेगा। ज्ञान का प्रसार सार्वजनिक जैनमन्दिर में स्वाध्याय के लिए ग्रंथ रखने से ही हो सकेगा; कारण वहां सब जैन लोग आते हैं और उन ग्रंथों पर सबका स्वत्व रहता है। उसे कोई उठाकर नहीं ले जा सकता। वह सुगमता से सब को मिल सकता है। ग्रंथ की बिक्री से सुविधा नहीं होती। गरीब आदमी, त्यागी तथा संन्यासी लोग ग्रंथ नहीं ले सकते, इसीलिए जहां तक बने मुफ्त में बांटना चाहिए।"

इंद्रिय-निग्रह का उपाय

एक दिन मैंने महाराज से पूछा–"महाराज! इन्द्रिय-निग्रह किस प्रकार करना चाहिए?" महाराज ने कहा था–"घोड़े का दाना-पानी बन्द कर दो, घोड़ा अपने-आप वंश में हो जाता है।" उन्होंने एक छोटे से उत्तर से गम्भीर प्रश्न का अनुभव के आधार पर समाधान कर दिया।

नियमितपना

महाराज में नियमितता (Punctuality) अधिक थी। वे समय पर कार्य करने का ध्यान रखते थे। उनमें गुणग्राहकता अपूर्व थी। यदि विशेष कलाकार उनके पास आता था, तो उसको वे बहुत प्रेरणा देते थे।

बच्चों से नैसर्गिक प्रेम

बच्चों पर महाराज का अकृत्रिम प्रेम था। कितनी भी गम्भीर मुद्रा में वे हों, बालक के पास आते ही वे उसे देखकर हर्षित होते थे। कभी-कभी किसी बच्चे के हाथ में मोटर का खिलौना रहता था, तो वे पूछते थे कि इसमें हम बैठ सकते हैं आदि। उस समय ऐसा लगता था कि ये वृद्ध पितामह हैं और ये संसार के श्रेष्ठ महापुरुष रत्नत्रय मूर्ति आचार्य शांतिसागर महाराज ही हैं, ऐसा नहीं मालूम पड़ता था।

धनी-निर्धन के समान भाव

एक दिन महाराज से पूछा—"महाराज! आप श्रीमन्तों के महाराज हैं या गरीबों के?" महाराज ने कहा—"हमारी दृष्टि में श्रीमन्त और गरीब का भेद नहीं रहा है। अर्थ के सद्भाव-असद्भाव द्वारा बड़ेपने की कल्पना आप लोग करते हो। अकिञ्चनों की निगाह में धन के सद्भाव-असद्भाव का अन्तर नहीं रहता।"

आदमी की परख

एक दिन महाराज से पूछा—"महाराज! आपके पास बैठने वाले क्या सभी खरे भक्त हैं? महाराज बोले—"इनमें दश प्रतिशत ही खरे हैं। यह हमें मालूम हैं कि कौन खरा है और कौन खोटा है। हम दूसरे के नेत्रों को देखकर ही उस आदमी को पहचान लेते हैं।" यथार्थ में उनकी दृष्टि भीतर की बात को देख लेती थी।

शास्त्रों को अपना प्राण मानना

धवल आदि सिद्धान्त-ग्रन्थ ताम्रपत्र में मुद्रित हुए। फलटण में धवल-ग्रन्थ विराजमान हुए थे। उनके सम्बन्ध में महाराज ने कहा था—"देखो, ये मेरे प्राण हैं, जो तुम्हारे पास हैं। मेरे बराबर इनकी रक्षा तुम लोगों को करना चाहिए।" ये शब्द महाराज ने सैकड़ों बार कहे थे। जिनवाणी को वे अपना प्राण मानते थे। वास्तव में जिनवाणी की आज्ञानुसार ही सल्लेखना द्वारा उन्होंने अपने प्राणों का त्याग भी कर दिया था।

दीक्षा और प्रहार

प्रश्न—"महाराज! यदि आप सबको दीक्षा दे देंगे, तो उनको आहार कैसे मिलेगा?"

उत्तर—महाराज ने कहा—"आहार के लिए दीक्षा मत लो। दीक्षा लेने के बाद आहार अपने-आप मिलेगा।"

भक्तामर स्तोत्र का प्रथम परिचय

"महाराज ने बताया था कि उन्होंने अपने जीवन में सबसे पहले भक्तामर स्तोत्र पढ़ा था। वही पहला शास्त्र था।"

ब्रह्मचारी बंडोबा बाबाजी रत्तू ने बताया कि—"आचार्य शन्तिसागर महाराज के लोकोत्तर व्यक्तित्व ने नेमण्णा नामके सरल चित्त वाले गृहस्थ को नेमिसागर मुनिराज बना दिया। नेमण्णा महोदय विलक्षण प्रकृति के व्यक्ति थे। भिन्न-भिन्न धर्म के साधुओं के सम्पर्क में रह चुके थे। एक दिन आचार्य महाराज के जीवन की घटना ने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। उस दिन उन्होंने निश्चय किया कि शान्तिसागर महाराज ही ऐसे साधुरत्न हैं, जिनके चरणों को अन्तःकरण में विराजमान कर जीवन भर अभिनन्दन करना चाहिए।

प्रभावप्रद घटना

यहां यह सहज प्रश्न उठता है कि वह कौन-सी घटना होगी, जिसने जीवन बदल दिया?

ब्र० बण्डू ने बताया—"आचार्य महाराज एक गुफा में बैठकर आत्म-ध्यान में निमग्न थे। वास्तव में अपने स्वरूप में मस्त बैठे थे। उस समय मकोड़े उनके शरीर पर चढ़कर उनकी पुरुष इन्द्रिय को काट रहे थे। वे मांस खाते थे और रक्त की धारा बहती थी; किन्तु महाराज स्तम्भ की तरह स्थिर थे। उनका ध्यान पूर्ण हुआ, तब बाद में नेमण्णा ने पूछा—"यह क्या है?" ब्र० बण्डू रत्तू ने कहा—"देखते नहीं हो, यह रक्त बह रहा है।"

सुनकर महाराज बोले—"कहां है रक्त?" बाद में उन्होंने देखा कि मकोड़े उनके शरीर को खा रहे थे। ब्र० बण्डू ने उस मकोड़े को अलग किया था।

सामायिक में तल्लीनता

उस समय आचार्य महाराज बोले—"हम तो सामायिक में बैठ गये थे। हमको पता नहीं, क्या हुआ।"

यह शब्द सुनकर नेगण्णा ने कहा—"यह क्या चमत्कार है? यह साधु है या भगवान् है। निश्चय से ये बहुत बड़े साधु हैं।" इस घटना ने उनके मन में प्रबल वैराग्य उत्पन्न किया। वे ही नेमण्णा आज परमपूज्य 108 निर्ग्रंथ मुनि आचार्य नेमिसागर महाराज के रूप में विराजमान रहे।

●●●

बालगौंडा पाटील, कोगनोली

चिकोड़ी के नागगोंड़ा जनगोंड़ा उर्फ बालगोंड़ा पाटील कोगनोली प्रभावशाली धर्मात्मा और गुरुभक्त सज्जन हैं। उन्होंने आचार्य महाराज की बहुत सेवा की थी। उन्होंने बताया, कि जब शांतिसागर महाराज ने दीक्षा लेकर भोजभूमि से विदा ली, तब उन्होंने कोगनोली ग्राम में अपनी प्रारम्भिक तपस्या का विशेष समय व्यतीत किया। आस-पास लोग शांतिसागर महाराज को कोगनोली के महाराज कहने लगे थे। उस समय पूर्ण दिसम्बर मुद्राधारी मुनियों का अभाव था। उस समय मुनि आहार लेते समय दिगम्बर हुआ करते थे। आचार्य शांतिसागर महाराज ने उस शिथिलाचार के जाल में जकड़ी हुई मुनिचर्या का उद्धार किया था। कोगनोली में वे दिगम्बर मुद्रा में रहा करते थे। एक उपवास, एक पारणा का क्रम बारह महीने चला करता था।

बालगोंडा पाटील ने बताया कि कोगनोली में आचार्य महाराज के शरीर पर सर्प लिपटा था। वह घटना तो सर्वत्र प्रसिद्धि पा चुकी थी।

उस ग्राम में एक विचित्र घटना हुई थी। श्री पाटील ने बताया–"हमारे यहां जब महाराज आये, तब उनकी तपश्चर्या बड़ी भीषण थी। रसों का परित्याग कर वे आहर लेते थे। बहुधा उपवास करते थे। दिगम्बर रूप में विचरण करते थे। कोई लोग उपसर्ग न कर दें इस भय से ग्राम का प्रमुख व्यक्ति होने के कारण मैं महाराज का कमण्डलु हाथ में लेकर सामने चलता था, जब कि महाराज शौच आदि के लिए बाहर निकलते थे।"

पागल द्वारा भयंकर उपसर्ग

महाराज बस्ती के बाहर एक निर्जन स्थान में बनी हुई गुफा में रात्रि को रहा करते थे और आत्मध्यान में लगे रहते थे। दुर्भाग्य की बात थी कि एक बार नगर का एक पागल महाराज के पास जंगल में गया। महाराज उस समय कठोर तप किया करते थे। उस एकान्त प्रदेश में उस पागल ने भयंकर उपद्रव किया। महाराज का शरीर अत्यन्त बलशाली था। यदि वे शान्ति के सागर न होते, तो

उस पागल को कहीं भी उठाकर फेंक सकते थे, किन्तु वे तो आचार्य महाराज थे। क्षमाशील साधुओं के स्वामी थे। भीषण उपद्रव में भी वे अविचलित थे। उस पागल के हाथ में एक लकड़ी थी, जिसके अग्र-भाग में नोकदार लोहे का कीला लगा था। उससे बैलों को मारने का काम लिया जाता है। पागल ने महाराज जी के पास रोटी मांगी। वह कहता था—"ऐ बाबा! रोटी दो, बड़ी भूख लगी है।" बाबा के पास क्या था? कुछ होता तो देते। वे तो चुपचाप आत्म-ध्यान करने बैठे थे। उनको शान्त देख पागल का दिमाग और उत्तेजित हुआ। उसने अपने पास की लकड़ी से महाराज के शरीर को मारना शुरू किया। लोहे की नोंक शरीर में, पीठ में, छाती आति में चुभी। सारा शरीर रक्तरंजित हो गया। लकड़ी की मार से हाथ-पैर सूज गये थे। उस कठिन परिस्थिति का क्या वर्णन करें। बहुत देर तक उपद्रव करने के बाद पागल वहां से चला गया। बस्ती में आकर उसने अपने कुटुम्बी की हत्या की, जिसके कारण उसे प्राण दण्ड मिला था।"

श्री पाटिल ने बताया—"सबेरे हमने जब महाराज को देखा, तो उनके शरीर पर अनेक जगह लकड़ी के निशान थे। कई जगह खून बह रहा था। मैं यह देखकर आश्चर्य में पड़ गया। समझ में नहीं आया क्या हुआ? सारे समाज को खबर लगी। सब लोग बहुत दुखी हुए। महाराज ने कुछ नहीं कहा। वे चुपचाप रहे और पास के ग्राम जैनवाडी को चले गये। वहां जाकर हम लोगों ने उनसे बहुत प्रार्थना की। अत्यधिक अनुनय-विनय के उपरान्त वे पुनः कोगनोली आये। आज भी पागल के द्वारा किये गये उपसर्ग का स्मरण कर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कैसी उनकी स्थिरता थी, कितना उनमें धैर्य था, कितनी उनमें शान्ति थी? हमारा छोटा-सा हृदय और साधारण-सा मस्तक उन गुरुदेव की गहराई और महत्ता का अनुमान भी नहीं कर सकता। धन्य हैं, वे जो उस भयंकर शारीरिक उपद्रव को साम्यभाव से सहन करते रहे।"

ऐ० सिद्धिसागरजी (भरमप्पा) ने आचार्य महाराज की बहुत सेवा तथा वैयावृत्य की थी। उन्होंने बताया कि मैंने महाराज से क्षुल्लक दीक्षा मांगी। महाराज ने कहा—"वर्धमानसागर से दीक्षा ले लो। इसके बाद उन्होंने ब्र० बंडू रत्नू को दीक्षा के लिए कहा और कहा कि हम तुम्हें दीक्षा दे देंगे। उस समय मैंने कहा—"महाराज!

मुझे भी आप दीक्षा दीजिये।" "रत्तू बंडू ने दीक्षा नहीं ली। मेरा भाग्य था, इससे महाराज से मुझे दीक्षा मिल गई। दीक्षा देते समय महाराज ने मुझसे कहा था कि तुम को कुछ नहीं आता, इसलिये हमेशा णमोकार मंत्र का जाप मंदिर में करते रहना। आहार को जाने के पूर्व शौच से आने पर तथा अन्य समय पर 27 बार णमोकार का मंत्र का जाप करना।"

पात्रापात्र का विवेक

आचार्य महाराज बहुत सोच-विचार कर कार्य करते थे। एक दिन भाईचन्द नेमचन्द गांधी नातेपुते ने आचार्यश्री से ब्रह्मचर्य प्रतिमारूप व्रत मांगे। महाराज ने उनकी पात्रता का विचार करके कहा—"तुम पापभीरु हो, इस कारण तुमको ब्रह्मचर्य व्रत देते हैं। तुम्हारे हृदय में वैराग्य नहीं है, इससे प्रतिमारूप व्रत नहीं देते हैं।"

विनोद

"महाराज का विनोद मधुर तथा अकटु होता था। भाईचन्द ने सुनाया, कि मेरी विलक्षण तथा विचित्र बातों को सुनकर महाराज मुझे—"दो शहाणा" (दो दिमाग वाला बुद्धिमान) कहा करते थे।"

महाराज के चार स्वप्न

लोणंद चातुर्मास के अन्त में आचार्य महाराज को यह स्वप्न रात्रि के अंतिम प्रहर में दिखाई पड़ा था—"आचार्यश्री के आसपास 500 से अधिक व्यक्ति बैठे थे। उस समय 12 हाथ लंबा सर्प घेरा बांधकर बैठा था। वह लोगों के पास से आकर महाराज से सिर पर चढ़ गया। उस समय महाराज ने लोगों को चुप रहने को कहा, इतने में सर्प चला गया।"

इस स्वप्न का अर्थ महाराज ने यह समझा कि सर्प यमराज का प्रतीक था। सर्प चला गया, इससे अपमृत्यु का संकट दूर हो गया, ऐसा सूचित होता था।

फलटण में

फलटण में चातुर्मास में सन् 1954 के कार्तिक मास में महाराज ने एक स्वप्न देख कि उनसे जिनशासन की देवी ने यह कहा कि अब अन्न का आहार छोड़ दो। सबेरे आदि नाथ मंदिर में जाकर उन्होंने अन्न-आहार का त्याग कर दिया।

वारसी में

तीसरा स्वप्न वारसी में अर्धजागृत अवस्था में एक विशाल गजेन्द्र सदृश स्थूलकाय सिंह दिखा। उसके मुख में एक आदमी समा सकता था। उसने महाराज की गर्दन को पकड़कर अपने मुंह में रख लिया; किन्तु दांत नहीं लगे। महाराज ने शांति भाव से सिद्ध भगवान् का स्मरण किया। उन्होंने सिंह का कान पकड़ा। इतने में नींद खुल गई।

इसका महाराज ने यह अर्थ निकाला कि उनका जीवन संकट में है। विपत्ति जीवित है; किन्तु अन्नत्याग द्वारा अकालमरण टलेगा, ऐसा प्रतीत हुआ।

कुंथलगिरि में

चौथा स्वप्न कुंथलगिरि में इस प्रकार आया था कि एक समय महाराज जंगल में अकेले खड़े थे। एक मजबूत सींगों वाला भयंकर जंगली भैसा रोषपूर्वक दौड़ता हुआ महाराज पर झपटा। उस समय एक मुनि हाथ में पिच्छी लेकर दस फिट की दूरी पर आ गये। उनके हाथ में एक तीन हाथ लंबी लकड़ी थी। उससे उन मुनि ने भैंसे को खूब मारा। पिटाई के कारण थक कर वह भैंसा गिर पड़ा। उस समय महाराज सिद्ध भगवान् का जाप कर रहे थे। मुनि ने महाराज से कहा कि अब आप संकटमुक्त हैं, चले जाइये। महाराज ने कहा कि मुनि होकर तुमने इस प्रकार हिंसा का कार्य क्यों किया? यहां से दूर चले जाओ।

इस स्वप्न से आचार्य महाराज ने सोचा कि विपत्ति तो दूर हो गई; किन्तु प्रशांत मुनि का दर्शन आगे दुर्लभ होगा, ऐसा प्रतीत होता है। महाराज ने मौनपूर्वक पांच उपवास का नियम लिया था। इन उपवासों का वर्णन महाराज ने अपने विश्वासपात्र भक्तों को सुनाया था, जिनके समक्ष वे अपने मन की बात संकोचरहित होकर कहते थे।

●●●

पार्श्वनाथ उपाध्ये

वयोवृद्ध श्री उपाध्ये ने शांतिसागर महाराज के सत्संग का लाभ लिया था, भोज ग्राम भी चिक्कोडी तालुका में ही तो है। श्री उपाध्ये का यह वर्णन महत्त्वपूर्ण तथा मनोरंजक है–"आचार्य महाराज जब गृहस्थ थे अर्थात् उन्होंने जब गृह नहीं छोड़ा था, तब वे हमारे ग्राम पट्टन में आए थे। मैं उनको एक घंटे पर्यन्त पद्मनंदिपंचविंशतिका सुनाता था। उस समय महाराज को ब्रह्मचारी सातगोंडा कहते थे। उनका उस समय यह नियम था कि शास्त्र स्वाध्याय के बिना वे अन्न-जल नहीं लेते थे। शास्त्र सुनने के उपरान्त ही वे भोजन करते थे। उनका शास्त्र का प्रेम प्रारंभ से ही महान रहा है। हमारा उनका हार्दिक प्रेम था।" वे शास्त्र सुनकर मुझसे कहते थे–

मुनि बनने की पूर्व से भावना

"उपाध्याय! मेरा मन शीघ्र ही स्वामी बनने का है।" दक्षिण में मुनिपद लेने वाले कको स्वामी कहने की पद्धति है। इस व्यवहार के पीछे सद्विचार छुपा है। चक्रवर्ती भी साक्षात् क्यों न हो, वह स्वामी नहीं है। वह बेचारा भोगों तथा इंद्रिय-सुखों का दास है। दासानुदास समान है। दिगम्बर मुद्रा स्वीकार करने वाला मनस्वी मानव इंद्रियों का दास नहीं रहता हे, वह इंद्रियों को दास बनाता है, अतएव मुनि को स्वामी कहना अर्थपूर्ण है।

उपाध्याय ने महाराज के स्वामी बनने की भावना ज्ञात करके कहा–"पाटील! स्वामी बनना बहुत कठिन काम है। उसके लिए आत्मा में बहुत शक्ति तथा सच्चा वैराग्य चाहिए।"

सुदृढ़ संकल्प

वे कहते थे–"मैंने अपने मन में पक्का निश्चय कर लिया है। मैं उससे पीछे नहीं हटूंगा।" "उनकी वाणी के पीछे सुदृढ़ संकल्प की प्रेरणा का दर्शन होता था। उनकी उच्च मनोभावना ज्ञातकर मैं उनके समक्ष यतिधर्म की विशेष रूप से व्याख्या करता था। उस अवस्था में वे मुझे ज्ञान, वैराग्य तथा ब्रह्मचर्य की जीवितमूर्ति दिखते थे।"

वर्धमान स्वामी महान् थे।

"जैसा निकट परिचय आचार्य महाराज के साथ था, वैसा ही परिचय तथा निकटता देवगोंडा पाटील (वर्धमानसागर महाराज) के साथ थी। दोनों पाटील बंधु सत्पुरुष, महान् तथा शांत आत्मा थे।"

उनका पवित्र सुझाव

महाराज मुझसे कहते थे—"उपाध्याया! तुम मुनिधर्म की इतनी मधुर तथा मार्मिक चर्चा करते हो। उसके गुण का कथन करते हो; तुम भी मुनि बनो तो ठीक रहेगा।" मैं कहता था—"मेरे चारित्र-मोह का प्रबल उदय है, इससे मैं महाव्रती बनने की पात्रता अभी अपने में नहीं पाता हूं। जब कर्मभार हलका होगा, तब उस निर्वाण-मुद्रा को धारणकर अपने जन्म को कृतार्थ करूंगा।" उनके दर्शनमात्र से हृदय का अपार आनंद प्राप्त होता था।

●●●

अरुहा सिद्धाइरिया उवज्झाया साहु पंच परमेष्ठी।

ते वि हु चिट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं।।

अर्थ–अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पंच परमेष्ठी भी वस्तुतः आत्मा में लीन रहते हैं, अतः निज आत्मा ही मुझे शरण है।

❄ ❄ ❄

समत्तं सण्णाणं, सच्चरित्तं य सत्तवो चेव।

चउरो चिट्ठादि आदे, तम्हा आदा ह मे सरणं ॥93॥ वा.आ.

अर्थ–सम्यग्दर्शन, सम्यक ज्ञान, सम्यक चारित्र और सम्यक तप ये चारों ही (निज) आत्मा में अवस्थित हैं। अतः मुझे निज आत्मा ही शरण है।

सेठ रामचंद धनजी दावड़ा नातेपुते

कोन्नूर गुफा

सेठ रामचंद धनजी दावड़ा नातेपुते ने कहा—"मैं पहली बार महाराज शांतिसागर जी के पास कोन्नूर में गया था। वहां पांच सौ से भी अधिक गुफाएं हैं। महाराज नगर के बाहर की गुफा में रहते थे। दोपहर की सामायिक गुफा में ही करते थे। गुफा पांच फुट से भी बड़ी थी। ऊंची अधिक थी। एक चिट्ठे वला सर्प, जो लगभग 2 हाथ का रहा होगा, गुफा में आया। वह महाराज की जंघा पर चढ़ा और बाद में गुफा के बाहर आ गया। वह महाराज के शरीर पर पांच मिनट पर्यनत रहा था। उस समय महाराज ध्यान में स्थिर थे। वे जरा भी हिले-डुले नहीं। उनकी दृढ़ता देखकर मेरे मन पर बहुत प्रभाव पड़ा। मैं इतना प्रभावित हो गया कि करीब लगातार तीस वर्ष पर्यनत भादों में उनके पास नियम से जाया करता था। मैं उनके बहुत परिचय में रहा। वे अपने ढंग के अद्वितीय महापुरुष हो गए।"

समाधि की बात तो तब आती, जबकि उसके सम्बन्ध में कभी किसी प्रकार की चर्चा चली होती। अद्‌भुत आत्मबली, परमपावन गुरुदेव प्रायः हृदय की बात मुझे बताते थे। उन्होंने कहा था—"हम सल्लेखना तो लेंगे, किन्तु वह यम-सल्लेखना न होगी। हम नियमरूप-सल्लेखना लेंगे।" उनके मनोगत को उपरोक्त रूप से जानने के कारण, मैं तो कभी नहीं सोचता था, कि महाराज और यमराज का द्वन्द्व यम-सल्लेखना के माध्यम से आरम्भ होगा?

यथार्थ बात

गहराई से पता चलाने पर यह अवगत हुआ कि वे साधुराज सल्लेखना की तपोग्नि में अभी प्रवेश करने की नहीं सोचते थे; किन्तु लोगों ने ऐसी विचित्र परिस्थिति लाकर एकत्रित कर दी कि महाराज की अत्यंत विरक्त और प्रबुद्ध आत्मा ने यमसल्लेखना को स्वीकार किया। अब विशेष ऊहापोह में क्या सार है? 'अब पछताए होत का, जब चिड़िया चुग गई खेत।' गुरुदेव तो गए। उनके जीवन की बातों को पुनः-पुनः स्मरण कर तथा तद्‌नुसार प्रवृत्ति कर हम अपना जन्म कृतार्थ कर सकते हैं। वे तो वास्तव में धन्य हो गए। हमारे समक्ष उनके पदचिह्न हैं।

●●●

आचार्य शान्तिसागर समारक विशेषांक

आचार्यश्रीका अन्तिम संदेश

श्री देशभूषण कूलभूषण दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र कुन्थलगिरी (जि० उस्मानाबाद) में परमपूज्य योगीन्द्र-चूडामणि, धर्मसाम्राज्य नायक, श्री 108 चारित्र-चक्रवर्ती-आचार्य-वर्य श्रीशांतिसागर महाराजने अपने यमसल्लेखना उपोषण के 36वें दिन दिनांक 8-9-1955 बृहस्पतिवार को सायं 5-10 से 5-32 तक, (22 मिनट) मराठी भाषा में दिया हुआ अन्तिम 'आदेश और उपदेश' इस प्रकार है—

"ॐ जिनाय नमः। ॐ सिद्धाय नमः। ॐ अर्हं सिद्धाय नमः। भरत ऐरावत क्षेत्रस्य भूत भविष्य, वर्तमान तीस-चौबीसों भगवान् नमः। सीमंधरादि बीस विहरमान तीर्थंकर भगवान् नमो नमः। ऋषभादि महावीर तक चौदहसो बावन गणधर देवाय नमो नमः। चौसठ ऋद्धिधारी मुनीश्वराय नमो नमः। हरएक तीर्थं करके समय दस-दस घोरोपसर्ग विजयी मुनीश्वराय नमो नमः।

"ग्यारह अंग चौदह रत्नयुक्त महासागर के समान शास्त्र है। उसका वर्णन कोई शास्त्रज्ञ नहीं करते। कोई केवली नहीं। हम जैसे तुच्छ प्राणी उसकी क्या विवेचना कर सकते हैं। आत्मा का कल्याण करने वाली जिनवाणी सरस्वती श्रुति देवी है। ब्रह्म महासागर के समान है। इसलिये जिन धर्म धारण करने वाले जीव का कल्याण अवश्यम्भावी है। इनमें से एक अक्षर "ॐ" को ही जो ॐ अक्षर धारण करता है उसी जीव का कल्याण होता है। 'सम्मेद चोटी' पर कलह करने वाले दो कपि उसी के स्मरण से स्वर्ग पहुंच गये। सुदर्शन सेठी के उपदेश से बैल स्वर्ग को गया। सप्त व्यसन धारी अंजन चोर को भी मोक्ष प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त नीच योनी के कुत्ते को भी जीवन्धर कुमार के उपदेश से सद्गति प्राप्त हुई। इतना महत्वपूर्ण होने पर भी लोग जैन धर्म को स्वीकार नहीं करते। जैन होकर भी जिन धर्म पर विश्वास नहीं करते। अनादिकाल से जीव और पुद्गल दोनों ही भिन्न हैं। यह समस्त संसार जानता है, लेकिन विश्वास नहीं करता। पुद्गल को जीव और जीव को पुद्गल मानते हैं। दोनों के गुण धर्म भिन्न हैं। ये दोनों भिन्न-भिन्न हैं। क्या जीव पुद्गल

हैं? या पुद्गल जीव हैं? पुद्गल तो जड़ हैं। स्पर्श, रस वर्ण गन्ध यह उसके गुण हैं। ज्ञान दर्शन चेतना यह जीव के लक्षण हैं। हम तो जीव हैं। पुद्गल का पक्ष लिया तो जीव का नाश होता है। किन्तु मोक्ष को जाने वाला एकमात्र जीव है, पुद्गल नहीं। जीव का कल्याण करना, अनंत सुख को पहुंचाना अपना कर्तव्य है। लेकिन मोहमय कर्मों से विश्व भूला हुआ है। दर्शन मोहनीय कर्म सम्यक्त्वका नाश करता है। चारित्र का मोहनीय कर्म चारित्र नाश करता है। फिर हमें क्या करना चाहिये? दर्शन मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिये सम्यक्त्व धरण करना चाहिये। चारित्र मोहनीय कर्म को नष्ट करने के लिये संयम धारण कीजिये। यही मेरा आदेश है! उपदेश है!!

अनंतकाल से जीव मिथ्या कर्म से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। तब, मिथ्या कर्म को नष्ट करना चाहिये। तव सम्यक्त्व क्या है? इसका समग्र वर्णन कुन्दकुन्दाचार्य जी ने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़ और गोभट्टसार आदि ग्रन्थों में वर्णन किया है। लेकिन उस पर किसकी श्रद्धा है? तब अपना आत्म-कल्याण कर लेने वाला जीव श्रद्धा से सुख किससे होगा इसका अनुभव लेता है। ऐसे ही संसार में परिभ्रमण करना है, अनादिकाल से परिभ्रमण ही करता आया है, तब संसार में परिभ्रमण ही करना है। उपाय नहीं है। फिर, हमें क्या करना चाहिये?

"दर्शन मोहनीय कर्म को नष्ट करना चाहिये। दर्शन मोहनीय कर्म आत्म-चिन्तन से नष्ट होता है। कर्म की 'निर्जरा' आत्म-चिन्तन से ही होती है। दान-पूजा करने से पुण्य प्राप्त होता है। तीर्थ-यात्रा करने से पुण्य प्राप्त होता है। हर एक धर्म का उद्देश्य पुण्य प्राप्त करना है। किन्तु 'केवल ज्ञान' होने के लिये, अनंत कर्मकी 'निर्जरा' के लिये आत्म-चिंतन ही उपाय है। वह आत्म-चिंतन चौबीस घन्टे में से छह घड़ी उत्कृष्ट, चार घड़ी मध्यम, दो घड़ी जघन्य, कम से कम दश पन्द्रह मिनट या हमारे कहने से पांच मिनट आत्म-चिन्तन कीजिये। आत्म-चिन्तन के सिवाय सम्यक्त्व नहीं प्राप्त होता, संसार का बंधन नहीं टूटता, जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु नहीं छुटती। सम्यक्त्व के सिवाय दर्शनमोहनीय कर्म का क्षय नहीं होता। सम्यक्त्व होकर छयासठ सागर तक वह जीव रहेगा। इसलिये चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय नहीं होता। इसलिये कैसे भी हो हरएक जीव को संयम धरण करना चाहिये। डरना नहीं है। वस्त्र में संयम नहीं हैं। वस्त्र में सातवां गुण स्थान नहीं है। सातवें गुण स्थान के अभाव से आत्मानुभव नहीं हो सकता। आत्मानुभव के अभाव से 'कर्मनिर्जरा'

नहीं। 'कर्म निर्जरा' के अभाव से 'केवल ज्ञान' नहीं व 'केवल ज्ञान' के अभाव से मोक्ष नहीं। इसलिये घबड़ाना नहीं। डरना नहीं। संयम धारण करने के लिये डरना नहीं। ॐ सिद्धाय नमः।

"सविकल्प समाधि, निर्विकल्प समाधि ऐसे दो भेद हैं। सविकल्प समाधि वस्त्र में गृहस्थ को होती है। वस्त्र में निर्विकल्प समाधि नहीं है। निर्विकल्प समाधि साध्य करने के सिवाय सम्यक्त्व होता नहीं। भाइयों! इसलिये डरना नहीं। मुनिपद धारण कीजिये। निर्विकल्प समाधि होने के बाद वास्तविक सम्यक्तव होता है। आत्मानुभव के अतिरिक्त सम्यक्त्व नहीं। व्यवहार सम्यक्त्व असली नहीं है। यह साधन है। फल के लिये जैसे फूल होना आवश्यक है, वैसे ही व्यवहार सम्यक्त्व आवश्यक है, ऐसा कुन्दकुन्दस्वामी जी ने समयसार में बतलाया है। निर्विकल्प समाधि मुनिपद धारण करने के बाद ही होती है। सातवें गुण स्थान से बारहवें गुणस्थान तक पूरी होती है। तेरहवें गुण स्थान में 'केवलज्ञान' होता है। ऐसा नियम है, शास्त्र में लिखा है।

इसलिये डरना नहीं। घबड़ाना नहीं। क्यों? संयम धारण कीजिये। पुद्गल और जीव भिन्न-भिन्न हैं यह सर्वश्रुत है। सत्य को नहीं समझा। अगर सत्य समझते तो, भाई, बनधु, माता, पिता आदि की भावना उनमें न रहती। यह सब पुद्गल से सम्बन्धित है। जीव का कोई भी साथी नहीं है। जीव अकेला है, बिल्कुल अकेला। उसका कोई नहीं, अकेला ही परिभ्रमण करता रहता है। मोक्ष की प्राप्ति भी अकेले को ही होती है।

देवपूजा, गुरुपास्ती, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये छः क्रियाएं हैं। असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या इन छः क्रियाओं से होने वाले पाप का इन छः क्रियाओं से क्षय होता है। इन्हीं से इंद्रिय सुख मिलता है। पुण्य प्राप्त होता है। पंच पाप का त्याग करने से पंचेन्द्रिय सुख मिलता है। लेकिन मोक्ष नहीं मिलता। सम्पत्ति, संतति, वैभव, राज्यपद, इन्द्रपद पुण्य से ही प्राप्त होते हैं। किन्तु मोक्ष आत्म-चिन्तन से ही प्राप्त होता है। नय, शास्त्र, अनुभव, इन तीनों को मिलाकर देखिये। मोक्ष किससे प्राप्त होता है? मोक्ष आत्म-चिन्तन से ही प्राप्त होता है। यह भगवान की वाणी है। यही एक सत्य वाणी है। इस वाणी का एक ही शब्द सुनने से जीव मोक्षपद पाता है। फिर यह कौन-सी वाणी है? "आत्म-चिन्तन"। इसके

अतिरिक्त कुछ करने से पुण्य नहीं प्राप्त होता। मोक्ष प्राप्त करने के लिये "आत्मचिन्तन" ही आवश्यक है, यह कार्य करना ही चाहिये।

सारांश यह है धर्म का मूल दया है। जिन धर्म का मूल सत्य, अहिंसा है। किन्तु "सत्य और अहिंसा" हम सब मुख से कहते हैं, लेकिन पालन नहीं करते। क्या स्वयंपाक और भोजन कहने नाम से ही पेट भर जाता है? क्रिया करने के सिवाय, बिना खाना खाये पेट नहीं भरता। क्रिया आवश्यक है, इसके अतिरिक्त सब छोड़ दीजिये। सत्य अहिंसा का पालन कीजिये।

सत्य में सम्यक्त्व होता है और अहिंसा में सब जीवों का रक्षण होता है। इसलिये यह व्यवहार कीजिये। इसी व्यवहार का पालन कीजिये। इसी से ही कल्याण होता है। इति।"

●●●

सत्य

ण डहदि अग्गी सच्चेण णरं जलं च तं ण बुडडेइ।
सच्च बलियं खु पुरिसं ण वहदि तिक्खा गिरिणिदीवि।।

॥838॥ भ०आ०-शिवकोटि आचार्य

अर्थ–सत्यवादी मनुष्य को आग नहीं जलाती, पानी उसे नहीं डुबाता, जिसके पास सत्य का बल है, उसे तीव्र वेग वाली नदी भी नहीं बहाती।

असत्य

जह परमण्णस्स विसं विणास सयं जह व जोव्वणस्स जरा।
तह जाण अहिंसादी गुणाण य विणासय मसच्चं ॥839॥

भ०आ०

अर्थ–जैसे विष उत्तमोत्तम भोजन का विनाशक है, बुढ़ापा यौवन का विनाशक है, उसी प्रकार असत्य वचन, अहिंसादिं गुणों का विनाशक है।

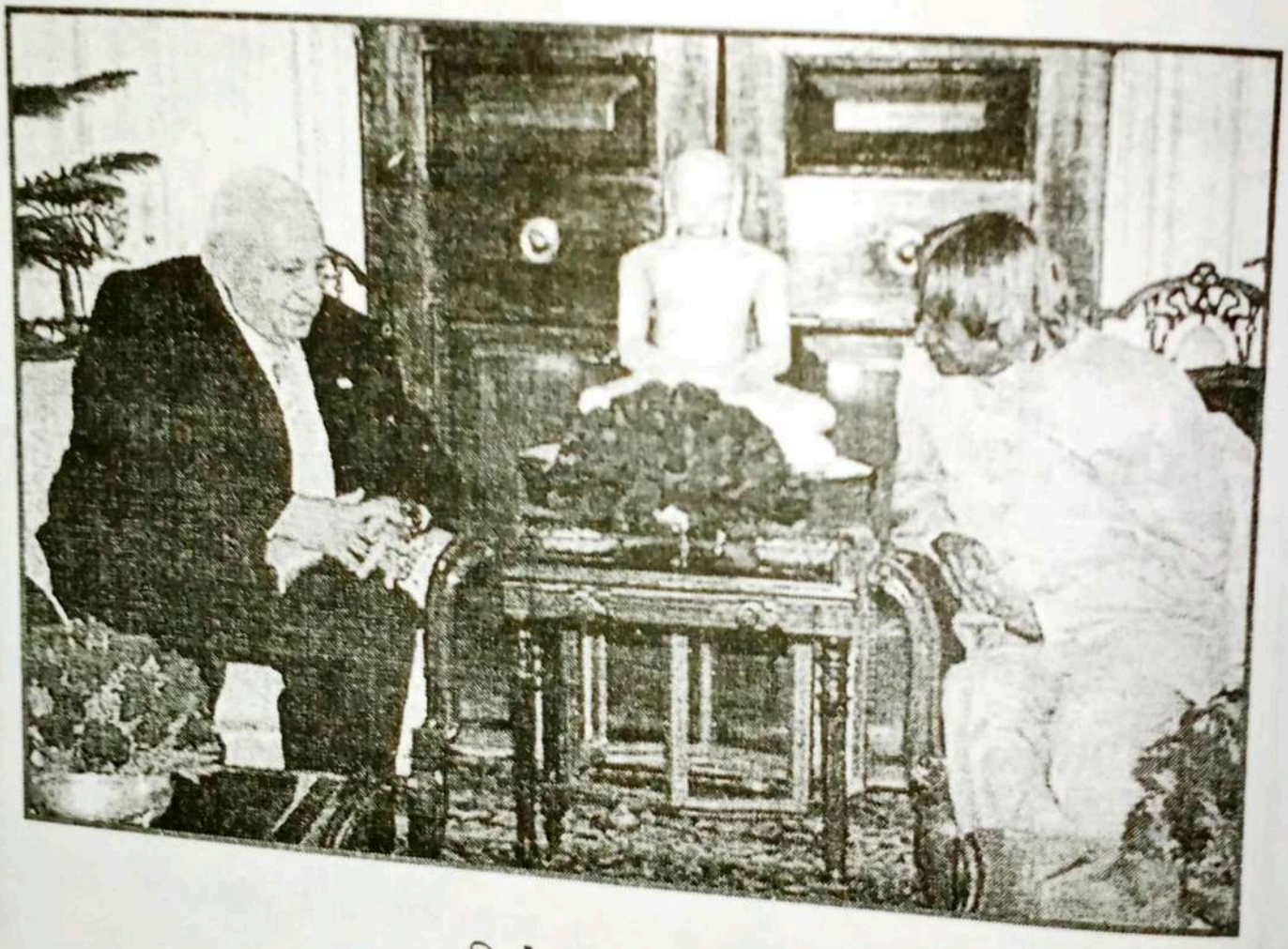

जियो और जीने दो

भारत यात्रा पर आए इजरायल के प्रधानमन्त्री श्री एरियल शेरोन तीर्थंकर भगवान महावीर की मूर्ति के समक्ष मंगलवार 1 सितम्बर 2003 को नई दिल्ली में राष्ट्रपति एपीजे अब्दुल कलाम से शान्ति वार्ता करते हुए।

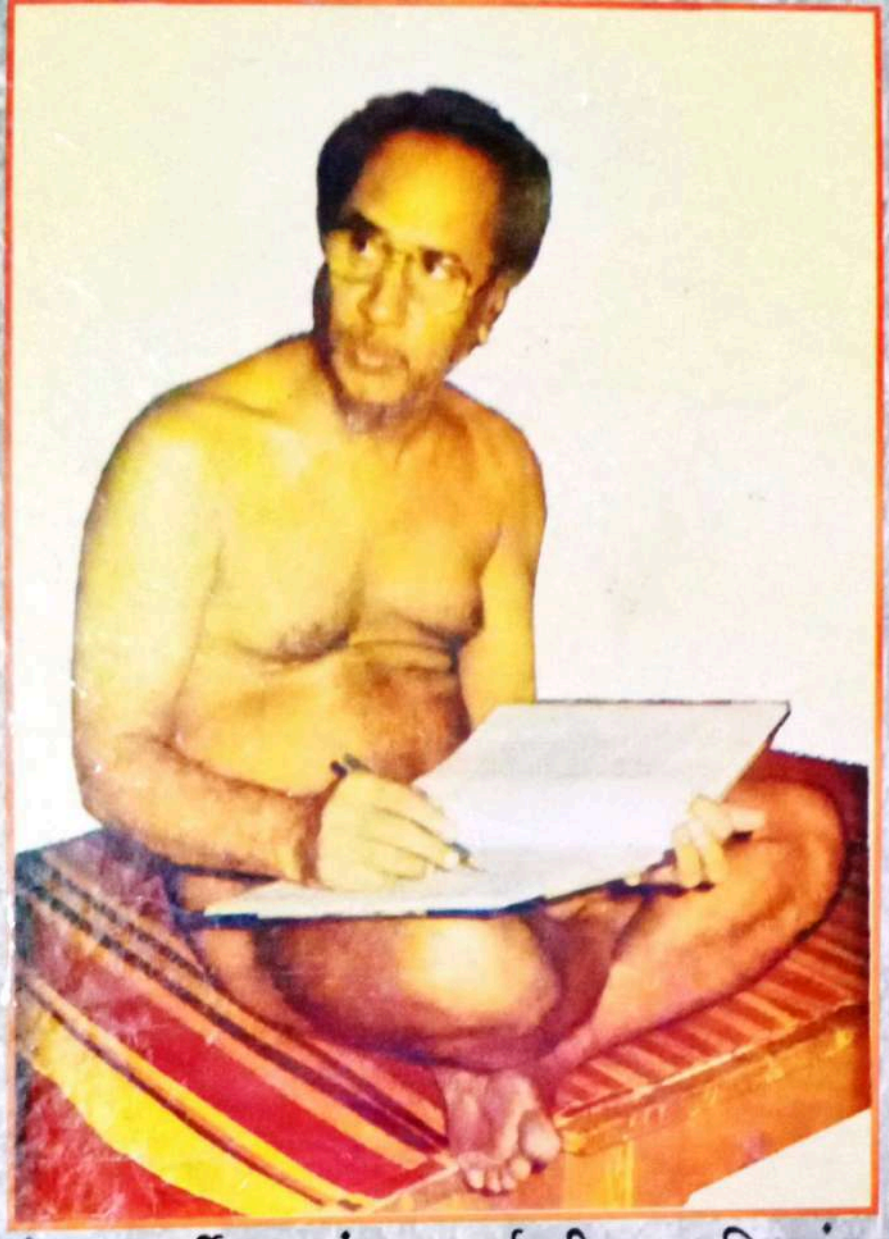

प०पू० सिद्धांत चक्रवर्ती राष्ट्रसंत आचार्य श्री १०८ विद्यानंद जी महाराज

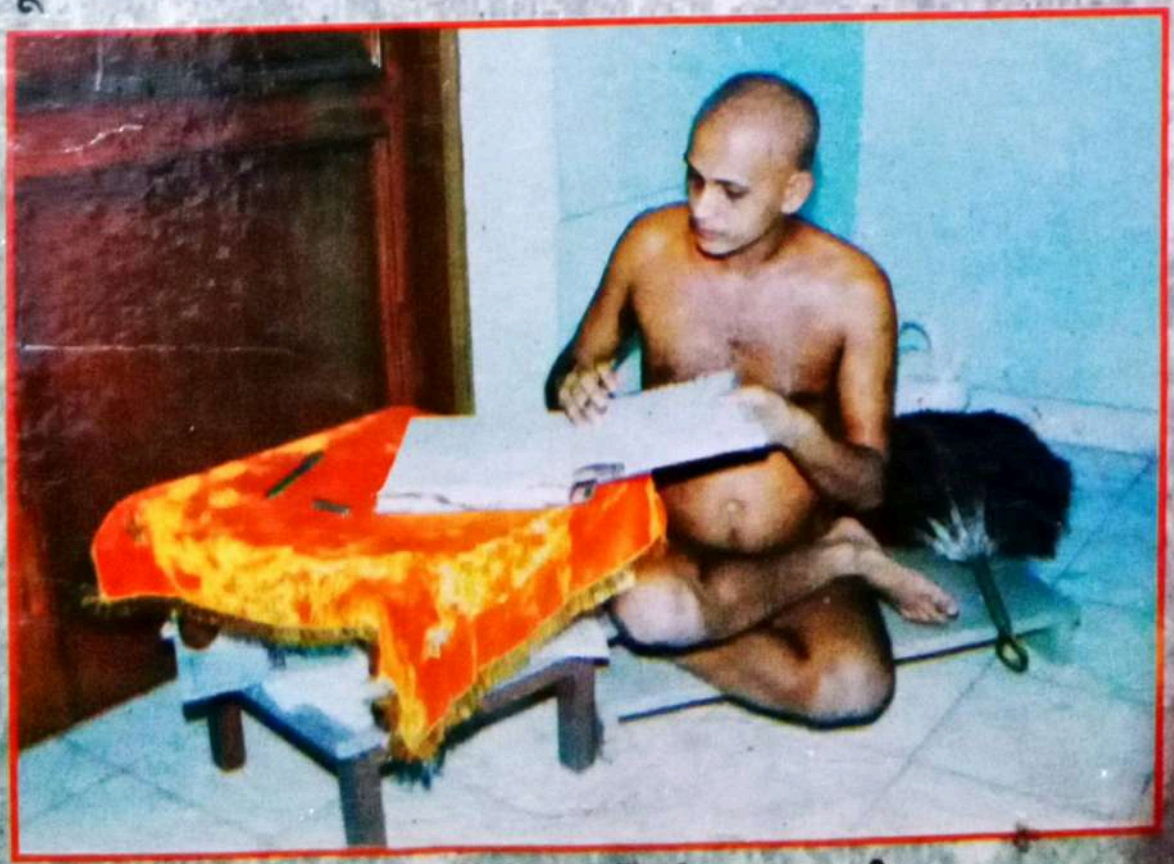

प०पू० उपाध्याय श्री १०८ निर्णय सागर जी महाराज